

3.1 शोध प्रश्न-1: 'नीति शिक्षा' का अर्थ क्या है?

3.1.1 प्रस्तावना

गांधी ने उनके द्वारा रचित 20 अध्यायों की 'हिन्द स्वराज' पुस्तक (गांधी, 1949) में अध्याय-18 में विशिष्टतः "शिक्षा" पर अपने विचार लिखे हैं। इसमें शिक्षा के सम्बन्ध "नीति" शब्द कई बार आया है, जैसा नीचे लिखा है:-

(गांधी, 1949) ने लिखा है: "तालीम का अर्थ क्या है? अगर उसका अर्थ सिर्फ अक्षरज्ञान ही हो, तो वह तो एक साधन जैसी ही हुई। उसका अच्छा उपयोग भी हो सकता है और बुरा उपयोग भी हो सकता है।...अक्षर-ज्ञान से दुनिया को फायदा के बदले नुकसान ही हुआ है। शिक्षा का साधारण अर्थ अक्षर-ज्ञान ही होता है।...प्राथमिक-प्राथमिक शिक्षा को लीजिये या ऊंची शिक्षा को लीजिये, उसका उपयोग मुख्य बात में नहीं होता। उससे हम मनुष्य नहीं बनते-उससे हम अपना कर्तव्य नहीं जान सकते।...अक्षर-ज्ञान...अपनी जगह पर शोभा दे सकता है। और वह जगह यह है: जब मैंने और आपने अपनी इन्द्रियों को बस में कर लिया हो, जब हमने नीति की नींव मजबूत बना ली हो, तब अगर हमें अक्षर-ज्ञान पाने की इच्छा हो, तो उसे पाकर हम उसका अच्छा उपयोग कर सकते हैं। वह शिक्षा आभूषण के रूप में अच्छी लग सकती है। लेकिन अक्षर-ज्ञान का अगर आभूषण के तौर पर ही उपयोग हो, तो ऐसी शिक्षा को लाजमी करने की हमें जरूरत नहीं। हमारे पुराने स्कूल ही काफी हैं। वहाँ नीति को पहला का स्थान दिया जाता है। वह सच्ची प्राथमिक शिक्षा है। उस पर हम जो इमारत खड़ी करेंगे वह टिक सकेगी।...अंग्रेजी शिक्षा लेकर हमने अपने राष्ट्र को गुलाम बनाया है। अंग्रेजी शिक्षा से दंभ, राग, जुल्म वगैरा बढ़े हैं। अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए लोगों में प्रजा को ठगने में, उसे परेशान करने में कुछ भी उठा नहीं रखा है।...हम सभ्यता के रोग में ऐसे फँस गये हैं कि अंग्रेजी शिक्षा बिलकुल लिये बिना अपना काम चला सकें ऐसा समय अब नहीं रहा। जिसने वह शिक्षा पाई है, वह उसका अच्छा उपयोग करे।...जो लोग अंग्रेजी पढ़े हुए हैं उनकी संतानों को पहले तो नीति सिखानी चाहिये, उनकी मातृभाषा सिखानी चाहिये और हिन्दुस्तान की एक दूसरी भाषा सिखानी चाहिये।...सबसे पहले तो धर्म की शिक्षा या नीति की शिक्षा दी जानी चाहिये।...पाठक: आपने जो धर्म की शिक्षा की बात कही वह बड़ी कठिन है।संपादक: फिर भी उसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। हिन्दुस्तान कभी नास्तिक नहीं बनेगा। हिन्दुस्तान की भूमि में नास्तिक फल-फूल नहीं पकते। बेशक, यह काम मुश्किल है। धर्म की शिक्षा का खयाल करते ही सिर चकराने लगता है। धर्म के आचार्य दंभी और स्वार्थी मालूम होते हैं। उनके पास पहुँच कर हमें

नम्र भाव से उन्हें समझाना होगा। उसकी कुंजी मुल्लों, दस्तूरों और ब्राह्मणों के हाथ में है। लेकिन उनमें अगर सदबुद्धि पैदा न हो, तो अंग्रेजी शिक्षा के कारण हममें जो जोश पैदा हुआ है उसका उपयोग करके हम लोगों को नीति की शिक्षा दे सकते हैं। यह कोई बहुत मुश्किल बात नहीं है।”

स्पष्ट है कि गांधी ने नीति की शिक्षा देने के लिये बहुत जोर तो दिया किन्तु यहाँ यह नहीं लिखा कि आखिर यह नीति या नीति की शिक्षा है क्या, या उक्त नीति शब्द का आशय क्या है। बहराल, निष्कर्ष यह हुआ कि गांधी द्वारा वर्णित नीति या नीति शिक्षा या वह शिक्षा जिसे देने के लिये उन्होंने कहा उसका पूर्ण अर्थ भी नहीं समझा जा सकता है। यदि हमें गांधी द्वारा वर्णित नीति या नीति शिक्षा या वह शिक्षा जिसे देने के लिये उन्होंने कहा उसका पूर्ण अर्थ समझना है तो एक ही रास्ता है कि हम उनके द्वारा शिक्षा के विषय में अन्यत्र स्थानों तथा अलग-अलग जगहों पर जो विचार व्यक्त किये हैं या शिक्षा के विषय में उन्होंने जो कार्यों को किया था, उनका विधिवत् अध्ययन किया जाये। गांधी जब गुजरात कीयरवडा जेल में 1930 में थे, तब उन्होंने वहाँ रहते हुए अपने पत्रों द्वारा भी अपने आश्रमवासियों को शिक्षा दी थी। इन शिक्षाओं का जिक्र “मंगल प्रभात” नामक पुस्तक में है। गांधी द्वारा वर्णित नीति या नीति शिक्षा का वास्तविक अर्थ जानने के लिये इस “मंगल प्रभात” नामक पुस्तक का भी अध्ययन करना शोधिका ने बहुत उपयुक्त व तार्किक समझा। वस्तुतः यही अध्ययन, गुणात्मक व दार्शनिकशोध विधि, द्वारा करना शोधिका का उद्देश्य है किन्तु साथ-ही-साथ इस शोध द्वारा यह भी अध्ययन करना भी है कि गांधी द्वारा वर्णित नीति या नीति शिक्षा का अर्थ व इस तरह की नीति शिक्षा देने से विश्व की ज्वलन्त समस्याओं के कुछ समाधान होने में क्या योगदान भी हो सकता है या नहीं। इस शोध अध्ययन में मात्र उक्त ‘हिन्द स्वराज’ तथा “मंगल प्रभात” नामक पुस्तकों का ही अध्ययन सम्मिलित नहीं है, बल्कि विभिन्न विद्वानों आदि द्वारा व्यक्त विचारों का अध्ययन भी सम्मिलित है। दोनों, नीति का क्या आशय व शिक्षा का क्या आशय, का अलग-अलग तथा संयुक्तरूप से नीति शिक्षा का विवरण, का अध्ययन व विवेचन समीचीन समझा जाकर नीचे दिया जा रहा है।

3.1.2 नीति

नीति के अनुसार कार्य नहीं करने से इन्द्रियजनित विज्ञान का सैद्धन्तिक पक्ष तो विकसित किया जा सकता है, किन्तु सामाजिक प्रगति नहीं हो सकती और सामाजिक व्यवस्थाएँ नहीं टिक सकती हैं। (वर्मा, 2013) नैतिक चेतना के बिना मानव-कर्म दिशाहीन तथा उद्देश्यहीन होंगे।

(वर्मा, 2013) अतः कर्तव्यों/नीति के कार्यों का ज्ञान का होना सामाजिक प्रगति के लिये मूलभूत आवश्यकता है। (वर्मा, 2013)

गांधी द्वारा व्यक्त नैतिक नियम उनके स्वयं के दर्शन, आस्थाएँ, प्रयोग, व्यवहार, कर्म व विचारों पर आधारित हैं। (वर्मा, 2013) गांधी का मानना है कि नैतिकता का तकाजा यह है कि जहाँ-जहाँ शंका हो, वहाँ वहाँ उसका निर्णय हमें अपने स्वार्थ के विरुद्ध करना चाहिए। (सुजाता, 2012) गांधी यह भी कहते हैं कि जो छोटे-छोटे नियमों का पालन करना सीख जाते हैं, उसमें बड़े-बड़े संकल्पों के पालन की शक्ति सहज ही आ जाती है। (सुजाता, 2012)

गांधी का नैतिक चिन्तन, सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक है। अनेक शास्त्रों की तरह, गांधी का नैतिक चिन्तन शब्दों या वाक्यों के संश्लेषण, विश्लेषण, आलोचना व समालोचनाओं से सम्बन्धित नहीं है। गांधी सत्य व्यवहार करने के पक्षधर थे। गांधी चिन्तन यह बताता है कि लोगों को क्या करना चाहिये, लोगों के कर्तव्य क्या हैं, व्यवहार की नीति सर्वहिताय, यानी व्यक्ति और समाज दोनों के हित में, होनी चाहिये। (वर्मा, 2013)

नीति और नैतिक कर्म क्या अलग-अलग हैं?

गांधी का कहना है कि नीतियुक्त कार्य ही नैतिक कर्म है।

नीतियुक्त कार्य कौन से हैं?

नीतियुक्त कर्म वो कर्म होते हैं, जो नीतिशून्य कर्म नहीं हैं। नीतियुक्त कर्म वो है जो ऐच्छिक हो, अर्थात् इच्छा करके किया गया हो, और नीतिशून्य कर्म वो हैं जो अनैच्छिक होते हैं। गांधी के अनुसार पारम्परिक कर्म भी नीति-शून्य होते हैं क्योंकि अधिकतर ऐसे कर्म बिना सोचे समझे किये जाते हैं। (वर्मा, 2013)

किस काम को नीतियुक्त मानें और किसको नहीं?

गांधी के अनुसार किसी कर्म का शुभ-अशुभ होना उसके कर्मफल पर निर्भर नहीं होता है। अर्थात्, गांधी नैतिक कर्म का मापदण्ड कर्मफल को नहीं मानते हैं। (वर्मा, 2013)

कोई कर्म नीतियुक्त है या नहीं, इसके निर्णय के लिये उस कर्म का प्रयोजन भी महत्वपूर्ण है। प्रयोजन में साध्य और साधन दोनों निहित होते हैं, और दोनों ही शुभ होने चाहिये। कर्म के साध्य और साधन दोनों के ही शुभ होने के लक्षण का अपवाद है: यदि हर हालत में साध्य शुभ अवश्य हो, तो (क) जब जिसके लिये बुरे साधन का प्रयोग किया जा रहा है और उसीव्यक्ति/वस्तु का बाद में अधिक शुभ होता है, या (ख) जब किसी आवश्यक शुभ साध्य के लिये कोई शुभ साधन उपलब्ध नहीं हो, तो इस स्थिति में किसी अशुभ साधन का प्रयोग किया जा सकता है। (वर्मा, 2013)

गांधी के जीवन संबंधी दो ही सिद्धांत हैं, जो की आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक सभी पहलुओं पर समान रूप से लागू रहते हैं। गांधी के ये दो सिद्धांत हैं:-1. सत्य, और 2. अहिंसा। (कुमारप्पा, 2010)

इन दो सिद्धांतों या बातों पर जो चीज सही या खरी नहीं होती, उसे गांधी के विचारों के अनुसार नहीं कहा जा सकता है। यदि चीजों से ऐसी दशा बन जाती है, जिससे हिंसा पैदा हो या बढ़े और जिसमें सत्य नहीं हो तो उसे गांधी के विचारों के अनुसार नहीं माना जाएगा। (कुमारप्पा, 2010)

आर्थिक मामलों के या आर्थिक नीति के संबंध किसी भी क्रिया, उत्पादन व फल आदि को सत्य और अहिंसा के तराजू से तोलते हैं और यह देखते हैं कि कहाँ सत्य है या नहीं; कहीं हिंसा निहित है या नहीं; और यदि उनमें सत्य व अहिंसा का आभाव है, तो वह त्याज्य होती है व अनुचित होती हैं और मानवता के लिए घातक होती हैं। (कुमारप्पा, 2010)

नीति का स्वरूप क्या होता है?

गांधी ने नीतिशास्त्र को ही सर्वोच्च शास्त्र माना है क्योंकि नीतिशास्त्र से इस बात की सीख मिलती है कि 'क्या करना चाहिये', जबकि अन्य शास्त्र यह बताते हैं कि वस्तु/ बात का वास्तविक स्वरूप क्या है। (वर्मा, 2013) जिससे हम अच्छे विचारों में प्रवृत्त हो सकते हैं, वही हमारी नैतिकता का परिणाम माना जाएगा। नीति मार्ग हमें यह बताता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। यदि हमें पूर्ण बनना है, तो हमें आज से ही हर तरह के कष्ट उठा कर नीति का पालन करना चाहिए। (सुजाता, 2012)

नीतिशास्त्र यह भी बताता है कि क्या करना शुभ कार्य है, क्या करना अशुभ कार्य है और किन कार्यों / व्यवहारों के करने में मानव-कल्याण निहित होता है। (वर्मा, 2013)

मनुष्य के जीवन का उद्देश्य और उसके प्रमुख कर्तव्य क्या होने चाहिए?

इस संबंध में उत्तर इस प्रकार है। मनुष्य जीवन का उद्देश्य आत्म-दर्शन है, और उसकी सिद्धि का मुख्य एवं एकमात्र उपाय यह है कि परमार्थिक भाव से जीव-मात्र की सेवा करें, जीव-मात्रों में तन्मयता तथा अद्वैत के दर्शन करें। (गांधी, 1929 अगस्त 15) जीवन की सार्थकता अपने को जानने में है। (सुजाता, 2012)

गांधी के अनुसार ईश्वर ही सत्य है, सत्य ही ईश्वर है, ईश्वर परम सत्ता है, ईश्वर विश्वव्यापक व सर्वव्यापी है, ईश्वर का अंश आत्मा रूप में हर एक में है, हर एक ईश्वर रूप है। अतः मनुष्य का प्रथम, मूल और सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य है, ईश्वर के साथ होना। और इस परम उद्देश्यकी प्राप्ति के लिये मनुष्य को अपने सभी तरह के कार्यों को करने का ध्येय ईश्वर प्राप्ति ही होना चाहिये। इसीलिये गांधी ने कहा है कि ईश्वर को सन्यास आदि द्वारा नहीं पाया जा

सकता है, बल्कि ईश्वर को प्राप्त करने का साधन है सेवा, विश्वव्यापी ईश्वरीय अंशों की सेवा/ और इसलिये मानव के समस्त प्रकार के कार्यों के करने का ध्येय मानव सेवा करना होना चाहिये, और इस कारण से गांधी के अनुसार मानव सेवा ही मनुष्य का परम ध्येय व परम धर्म है जिससे परिणामतः सृष्टिकर्ता, सर्वव्यापी, व विश्वव्यापी, सत्य ईश्वर की सेवा सम्भव है। स्पष्ट है कि मानव सेवा से आशय, विशिष्ट व्यक्ति की सेवा नहीं है, प्रत्युत समस्त मानव की सेवा है, सभी का उदय करना (सर्वोदय) है। (वर्मा, 2013)

नीति के नियमों का स्वरूप क्या होता है?

गांधी के अनुसार नैतिक नियमों में निम्न विशेषतायें होती हैं:—(1) नैतिक नियम में बदलाव नहीं हो सकता है, जबकि लोगों के मत में बदलाव हो सकता है। (2) नैतिक नियम सृष्टि शासित हैं, इनका निर्माण मनुष्य द्वारा नहीं होता है। (3) नैतिक नियम सत्य हैं क्योंकि सृष्टि सत्य है। (4) नैतिक नियम अक्षय होते हैं। (5) नैतिक नियम में स्वार्थ निहित नहीं होता है। (6) नैतिक नियम गूढ़ होते हैं, अर्थात् नीतियुक्त और दूसरे नियमों में अन्तर समझने में कभी—कभी भूल भी हो सकती हैं। (7) नैतिक नियम सर्वव्यापक होते हैं। (वर्मा, 2013)

नीति के नियमों सम्बन्धी अन्य बातें

हमें देह, दिमाग और मन तीनों ही को अलग—अलग देखना और समझना चाहिये, और फिर उसके अनुसार आचरण भी करना चाहिए। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

नीति का नियम कोई राजा या शहशाह नहीं बनाता। नीति के नियम सर्वोपरि है, और ईश्वरीय हैं। सुकरात जिन नीति का अनुसरण करता था उन्हें सारी दुनिया स्वीकारती है, हालांकि कुछ लोग उसे नापसंद करते थे। उसकी जो नीति थी, वह सदा रही है और रहेगी। रॉबर्ट ब्राउनिंग के अनुसार कभी कोई शैतान दुनिया में द्वेष और झूठ को विजयी बताये, तो भी न्याय, भलाई और सत्य ईश्वरीय ही रहेंगे। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

नीतियुक्त काम हम तब तक नहीं कर सकते, जब तक कि हम यह न मानने लगे और यह अनुभव न करने लगे कि सबका अंतर्दामी ईश्वर हम सब के कार्य का साक्षी है। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

नीति के नियम सर्वोपरि है, और ईश्वरीय हैं। और इसलिये नीति के नियमों को कोई भी मनुष्य अंत तक नहीं कर सकता। नीति के नियमों का अस्तित्व हमेशा ही रहा है और रहेगा; जो उनको नहीं मानेगा उसका नाश निश्चित है। उदाहरण बतौर:—असीरिया और बेबीलोन में अनीति पनपी और सभ्यता का नामो—निशान मिट गया। इसी प्रकार, रोम में जब अनीति पनपी, तब उसका भीविनाश हो गया और उसके महान पुरुष भी उसका बचाव नहीं कर सके। इसी तरह,

ग्रीस की जनता बुद्धिमान थी, किन्तु उनकी बुद्धिमानी भी अनीति को टिका नहीं सकी। फ्रांस में वेंडेल फिलिप्स ने कहा कि जब अनीति राज गद्दी पर बैठी हो, तो उसका नाश है। सारांश में, शिक्षा यह मिलती है कि जो जनता नीतियुक्त काम करती है; वह सुख, स्वतंत्रता और शांति को भोगती है।(सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

नीति के नियमों का पालन करने के लिये प्रत्येक मनुष्य बाध्य है, उसकी इच्छा की नहीं चलेगी। जिस प्रकार मनुष्य को राजनैतिक नियमों के अधीन रहना पड़ता है, वैसे ही नीति के नियमों के अधीन रहना भी हमारा कर्तव्य है। नीति के नियम राजनैतिक और व्यवसायिक नियमों से अलग तथा उत्तम हैं। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

नीति के नियम सांसारिक नियमों से बहुत भिन्न हैं। कारण इसका यह है कि नीति हमारे हृदय में रहती है, जबकि सांसारिक नियम मन-बुद्धि आदि से उत्पन्न होती है। इसी कारण, अनीति का आचरण करने वाला मनुष्य भी अपनी अनीति कबूल करेगा, क्योंकि हृदय उसके भी है और झूठ कभी भी सच नहीं हो सकता। और इसीलिये अनीति का आचरण करने वाला मनुष्य भी मानेगा कि नीति का पालन करना कर्तव्य है।(सस्ता साहित्य मण्डल, 2013) संसार के साधारण शास्त्र और नीति में अन्तर यह कि साधारण शास्त्र बताते हैं संसार कैसा है, जबकि नीति का रास्ता यह बताता है कि संसार कैसा होना चाहिए। अर्थात्, नीति द्वारा हम यह जान सकते हैं कि मनुष्य को किस तरह का आचरण करना चाहिए।(सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

नीति के नियम अचल हैं। मत बदला करते हैं, पर नीति नहीं बदलती। कभी-कभी अज्ञान की दशा में हम नीति व अनीति में भेद करने में गलती कर बैठते हैं। कभी-कभी स्वार्थ की दृष्टि होने से अनीति को नीति मान लेने की गलती कर दी जाती है। जब मनुष्य स्वार्थ का विचार त्याग कर नीति-अनीति की ओर ही ध्यान देगा, तभी नीतियुक्त कार्य हो सकेगा। आधुनिक विज्ञान के विचारों के विषय में वैज्ञानिकों में बहुत मतभेद दिखता है, किन्तु नीति के नियमों के विषय में मतभेद होना संभव नहीं है। हालांकि चूंकि नीति की शिक्षा अभी बिल्कुल बचपन की अवस्था में है, इसलिये नीति के नियमों में एक मत की स्थापना होने कुछ समय लग सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अच्छे-बुरे में भेद नहीं समझ सकते। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

किसी काम के नीतियुक्त होने अथवा न होने, या भले अथवा बुरे होने का आधार न तो मनुष्य का स्वार्थ होता है, न उसकी इच्छाएं होती हैं, न मोह होता है, न ममता होती है और न मन की चंचलता होती है। उदाहरण:- बच्चे को कोई हानिकारक चीज ममतावश देना, नीतियुक्त काम नहीं है। ऐसा करना अनीतियुक्त है। कोरा स्नेह नहीं हो, बल्कि नीति-विचार के द्वारा उसकीसीमा निश्चित कर देनी चाहिये, अन्यथा वह काम विषरूप हो सकता है। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

नीतिमार्ग पर यह सोचकर चलना चाहिये कि नीतिमार्ग पर चलना हमारा कर्तव्य है, हमारा स्वभाव है। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013) सदाचार के कारण अच्छे विचार उठते हैं। वह हमारी नीति है। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013) किसी कार्य के नीतियुक्त होने या नहीं होने की एक कसौटी यह है कि किया हुआ काम शुभ होना चाहिये और साथ ही शुभ हेतु से किया गया होना चाहिये, फिर उसका परिणाम कुछ भी हो क्योंकि परिणाम पर हमारा बस नहीं होता है। उदाहरण:- सिकंदर को महान कहते हैं, किन्तु हम उसे नीतिपालक नहीं कह सकते हैं। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

नीतिमार्ग पर चलने के लिये स्वयं के लाभ को नहीं देखा जाता। लाभ के उद्देश्य से किया हुआ काम नीतियुक्त नहीं माना जा सकता। भला काम सिर्फ दूसरों की भलाई करने के इरादे से भलाई करने के लिए ही होना चाहिए, न कि अपने लाभ के लिये, तभी उसे नीतियुक्त कार्य माना जाएगा। मित्र के साथ तो सच्चे रहना, और दुश्मन से दगाबाजी करना यह इंसानियत का काम नहीं है। शेक्सपियर के अनुसार जो प्रीति लाभ की दृष्टि से की गई हो, वह वास्तविक प्रीति नहीं है। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

नीति मार्ग में नीति का पालन करते हुए उसका फल प्राप्त करने की बात तो उठती ही नहीं। मनुष्य भलाई करता है तो कुछ प्रशंसा प्राप्त करने के लिए नहीं, बल्कि इसलिये कि वह भलाई किए बिना रह ही नहीं सकता। (सुजाता, 2012) इसी प्रकार, नीतियुक्त काम करते यदि काम करने वाला किसी प्रतिफल प्राप्त करने की बात सोचता है, वह कार्य नीतियुक्त नहीं कहलायेगा। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013) बुरा काम, बुरा ही होता है, अनीतियुक्त होता है, भले ही उससे हमें लाभ होता है। एक आदमी ने दूसरे आदमी का कोई नुकसान किया हो, तो भले ही उसका असर अपने ऊपर हो या न हो किन्तु उस काम को खराब ही कहा जाएगा। कुछ बुरे कार्यों से हमें लाभ होता है, फिर भी हम मन में तो समझते ही हैं कि वह बुरे हैं। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

वस्तुतः नीतिपालक कभी गुमान नहीं करता कि उसने किसी के साथ भलाई/सेवा की और न ही उसे अपने भलाई/सेवा के काम की कीमत आंकनी चाहिए। और वह निरंतर पहले से अधिक भलाई करता रहता है। ऐसे व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार का नाम ही सच्ची नीति है। (सुजाता, 2012) सच्चा नीतिपालक वो है जो दूसरों की सेवा/ भलाई सम्मान पाने के लिए नहीं करता है। (सुजाता, 2012)

प्रायः हम लोग साधारण रीति-रिवाज के अनुसार व्यवहार करते हैं जिनमें विशेष तौर से नीति का समावेश नहीं होता है। फिर भी हम रूढ़ि के पीछे चलने को नीतियुक्त नहीं कह सकते। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013) नीति रीति-रिवाज या लोकमत की परवाह नहीं करती। लोकमत या रीति-रिवाज जहाँ तक नीति के नियम का अनुसरण करता दिखाई दे, वहीं तक नीतिमान पुरुषको मान्य होगी। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013) कुछ अच्छे रीति-रिवाज होते हैं, किन्तु

उनको नीति, धर्म कहना गलत है। लेकिन जो काम नीति के अंदर आते हैं, उन्हें रीति-रिवाज कह सकते हैं। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

यह नीतिमार्ग बातों से मनुष्यता लाने का उपाय नहीं है। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013) नीतिमार्ग पर चलने का अर्थ यह भी नहीं है कि हम थोड़े अधिक मेहनती हो जाएं, थोड़ा अधिक पढ़-लिख लें, थोड़ा अधिक साफ-सुथरे रहें, इत्यादि। नीतिमार्ग पर चलने का अर्थ है कि पूर्ण मनुष्यता आये। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013) हमें संपूर्ण बनने के लिये, बिना देरी किये और कष्टों की परवाह किये बिना नीति के अनुसार तुरन्त चल देना चाहिये और नीति पर चलने को अपनी जिम्मेदारी समझकर तदनुसार व्यवहार करने में प्रसन्न भी होना चाहिए। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013) निर्भय होकर नीतिमार्ग पर कदम बढ़ा ही देना चाहिए, डर-डर कर किया गया भला करने का काम नीतिरहित ही होता है। नीतियुक्त काम करने में न तो डर या जोर-जबरदस्ती होनी चाहिए और न ही उसमें स्वार्थ होना चाहिए। ईमानदारी अच्छी व्यवहार-नीति है, यह सोच कर अपनाई हुई ईमानदारी अधिक दिन नहीं टिक सकती। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

हम झूठ बोलकर किसी को ठगें तो उससे विपक्षी की हानि होगी, यह तो सच है, अर्थात् हमारे सच बोलने से उसकी हानि होना रुकेगा और इस प्रकार सच बोलना अच्छी नीति हुई। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

परम नीति पालक को कभी यह सोचकर हतोत्साहित नहीं होना चाहिये कि संसार में अधिकांश लोग तो नीतिपालन करते नहीं हैं, तो वह क्यों करे। नीतिमान को घबराना नहीं चाहिए। नीतिमान अपनी नीति का मालिक है, दूसरों द्वारा कत्वय नहीं निभाये जाने के बारे में सोचना उसका काम नहीं है क्योंकि दूसरे गलत करेंगे तो उसका दुष्फल उनको मिलेगा। दूसरी बात नीतिमान को यह ध्यान में रखना होगी कि नीति का आचरण नहीं करने से निश्चित ही, वो हो या अन्य कोई, हर व्यक्ति दोषी माना जाएगा। नीतिमान को यह ध्यान में रखना होगा कि नैतिक व्यक्ति को मानव की सेवा करनी हो और साथ ही लगातार सच्चाई का व्यवहार करना हो, तो नीतिमान को मार भी खाने के लिये तैयार रहना पड़ेगा, और इसको दुःख नहीं मानना चाहिये क्योंकि आत्मा को उस कष्ट से कहीं अधिक सुख और शांति प्राप्त होती है। (सुजाता, 2012) खुदा या ईश्वर सर्वशक्तिमान है, संपूर्ण है, दयावान है, तथा उसकी अच्छाई व उसका न्याय अतुलनीय है। यदि यह सत्य है, तो व्यक्ति ईश्वर का परित्याग कर ही कैसे सकते हैं। ईश्वरीय नीति के अनुसार आचरण करने वाला यदि असफल होता दिखाई दे तो उसमें नीति का कोई दोष नहीं है। (सुजाता, 2012)

नीति, सच्ची सभ्यता और वास्तविक उन्नति सदा एक साथ देखने में आती हैं। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

उपरोक्त चर्चा से प्रश्न उठता है कि ईश्वर क्या है?

गांधी सत्य को ही ईश्वर मानते थे और ईश्वर पर विश्वास करते थे, ईश्वर को परम सत्ता व सृष्टिकर्ता मानते थे, ईश्वर को सर्वव्यापक मानते थे, ईश्वर को अपरिवर्तनशील मानते थे, ईश्वर को सत्-चित्-आनन्द मानते थे। उनके अनुसार मानव-आत्मा ईश्वर (सृष्टिकर्ता) का प्रकाश है और इस प्रकार ईश्वर और मानव भिन्न नहीं हैं। और इसलिये गांधी मानव की महानता और मानव की आत्मा को महत्वपूर्ण मानते हैं। गांधी का मानना था कि ईश्वर को बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता है, हालाँकि उसके अंश को अन्तरात्मा द्वारा अनुभव किया जा सकता है। (वर्मा, 2013)

गांधी का मानना है कि मत बदलते रहते हैं, किंतु नीति नहीं बदलती है क्योंकि नीति का निवास हमारे हृदय में है। यदि कोई शैतान इस दुनिया में द्वेष और झूठ की दुहाई फिरवा दे, तो भी न्याय और सत्य तो ईश्वरीय ही रहेंगे। (सुजाता, 2012) जो मनुष्य ईश्वर का काम करता है, वह ईश्वर का पुरुष है। जो मनुष्य स्वयं शुद्ध है व द्वेषरहित है, किसी से गलत लाभ नहीं उठाता, हमेशा मन से पवित्र व्यवहार करता है, वही मनुष्य धार्मिक व सुखी है और वही धनवान भी है। (सुजाता, 2012)

ईश्वर, सत्य और नीति के सम्बन्ध में गांधी ने उल्लेख किया है कि व्यक्ति पहले अपने प्रिय के लिए श्री, यश, आयु, व विद्या की प्रार्थना करता था लेकिन समझ आने पर प्रार्थना करता है कि उस प्रिय की नैतिकता बनी रहे है। (सुजाता, 2012) यह भी उल्लेख किया है कि सद्गुणी व्यक्ति प्रार्थना करते हैं कि हे खुदा! नीति को छोड़ कर मुझे किसी और दूसरे खुदा की आवश्यकता नहीं है। अर्थात्, नीतिरूप नींव टूट जाए, तो ईश्वररूपी और धर्मरूपी महल धाराशाई हो जायेगा। (सुजाता, 2012)

नीति व धर्म के परस्पर सम्बन्ध में गांधी के विचार

नीति का घनिष्ठ सम्बन्ध धर्म से है। यानी, कत्वर्षों का पालन करना धर्म है। (वर्मा, 2013) गांधी के अनुसार नीति-दर्शन को नीति धर्म या धर्म-नीति भी कहा जा सकता है। (वर्मा, 2013) कोई धर्म अनैतिक है, तो वह अधर्म है। सच्चा धर्म, सच्ची नीति है और सच्ची नीति, सच्चा धर्म है। (वर्मा, 2013) नैतिकता धर्म है, और धर्म नैतिकता है। नैतिकता और धर्म एक दूसरे पर अश्रित होते हैं। (वर्मा, 2013) सारे धर्म नीतियों पर टिके हुए हैं। हम किसी धर्म को माने या न माने किंतु नीति का पालन करना मानव का फर्ज है। नीतिहीन व्यक्ति लोक या परलोक में किसी दूसरे का भला नहीं कर सकते। (सुजाता, 2012) सभी धर्म सच्चे और समान हैं क्योंकि नीति से अलग कोई धर्म हो ही नहीं सकता। (सुजाता, 2012)

कुछ लोग कहते हैं कि धर्म और नीति में कोई संबंध नहीं। किंतु वास्तविकता यह है कि नीति के बिना धर्म टिक ही नहीं सकता। जो लोग अपने स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि नीति के लिए ही नियम का पालन करते हैं उन्हें ही धार्मिक कहा जा सकता है। (सुजाता, 2012)

सभी धर्मों में नीति का स्थान तो है ही, लेकिन धर्म की बात छोड़ दें और सामान्य बुद्धि से सोचें तो पायेंगे कि नीति का आचरण आवश्यक है और उसमें सुख है। (सुजाता, 2012)

धर्म की कल्पना भी अक्सर मनुष्य के अन्दर नहीं रहती है। अधिकतर हम कष्ट की स्थिति को दूर करने के लिए कोई धर्म अपना लेते हैं। भय से या प्रीति से किए गए कार्य को धर्म नहीं कहा जाता है। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

बुद्धि से देखें या शास्त्रों की दृष्टि से देखें, बुद्धि और शास्त्र दोनों के द्वारा देखने से नीति और धर्म एक ही हैं। नीति और धर्म एक सिक्के के दो पहलू हैं क्योंकि धर्मनीति द्वारा शासित हैं। यह भी कहा जा सकता है कि नीति के बिना धर्म का अस्तित्व संभव नहीं है। अघोर कर्म करते हुए भी धार्मिक होने का गर्व रखते हैं बहुत से दुराचारणी पुरुष। नास्तिक कहने में गर्व अनुभव करते हैं कुछ लोग। ऐसे मत वाले मनुष्य धर्म के बहाने अनीति का आचरण करके और भी खतरनाक हो गए हैं। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

प्रायः लोग सोचते हैं कि किसी का थोड़ा सा नुकसान करके यदि अपना कुछ लाभ हो सके तो क्यों ऐसा न करे ? किन्तु वास्तविकता यह है कि दूसरे की हानि करके होने वाला लाभ हानि है। बिस्मार्क ने जर्मनी की भलाई के लिए भयानक कार्य किए, जबकि वह सामान्य समय में बच्चों को नीति के वचनों को बताता था। इसका कारण यह है कि उसकी नीति में धर्म नहीं समाया हुआ था। क्योंकि यदि नीतिरूपी बीज को धर्मरूपी जल का सिंचन नहीं मिलता है, तो नीति में अंकुर नहीं फूटता और यह बीज सूखा ही रहता है, और लंबे अरसे तक पानी न पाए तो बीज नष्ट भी हो जाता है। इस बात से ज्ञात होना चाहिये कि सच्ची नीति में सच्चे धर्म का समावेश होना ही चाहिए क्योंकि धर्म के बिना नीति का पालन नहीं किया जा सकता। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

यह पाया जाता है कि संसार के प्रमुख धर्मों में जो नीति के नियम बताए गए हैं, वह अधिकतर एक ही हैं। उन धर्मों के प्रमुखों ने कहा है कि धर्म की बुनियाद नीति है। नीतिरूपी नींव के टूट जाने पर तो धर्मरूपी मकान भी कुछ समय में ही ढह जाएगा। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

धर्म और नीति को एक कहने में अड़चन नहीं है। डॉक्टर क्वाइट ने तो यहाँ तक कह दिया है कि *“या खुदा, नीति के सिवा मुझे दूसरा खुदा नहीं चाहिए।”* अक्सर लोग *“मुख में राम, बगल में छुरी”* को चरितार्थ करते दिखते हैं। उदाहरण बतौर:- एक आदमी मानता है कि ईश्वर है, फिर भी उसकी सभी आज्ञाओं को तोड़ता है। दूसरा, नाम से ईश्वर को नहीं पहचानता, पर अपने काम से उसको भजता है और ईश्वरीय नियमों में उनके कर्तापन को देखता है और

उसके कानून का पालन करता है। निश्चित है इन दोनों में दूसरा आदमी धर्मवान और नीतिमान माना जाएगा।(सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

क्या ज्ञान, बुद्धि व शिक्षा, नीति नहीं सिखाती हैं?

गांधी ने कहा कि विचार करने की कला सच्ची शिक्षा है। यह कला हाथ में आ जाए तो दूसरी सारी कलाएं उसके पीछे सुंदर रीति से आ जायेंगी। जितने हम काम करते हैं, उनको विचार पूर्वक करें तो शांति बढ़ेगी, करने वाले की दक्षता बढ़ेगी, बहुत सा वक्त बचेगा, और काम में लगातार नया रस पैदा होगा। हम जानवर के जरिए रहट चलाते हैं, जानवर को बड़ी मशक्कत करनी पड़ती है, किंतु उसके ज्ञान में वृद्धि नहीं होती, अपने काम में उसे रस नहीं आता, और यदि आदमी सिर पर खड़ा न हो तो वह रहट की चरखी घुमाता नहीं है। पर हम तो मनुष्य हैं। मनुष्य का अर्थ है, विचार करने वाला ज्ञानवान। हमें पशु की भांति तो नहीं रहना चाहिये या व्यवहार नहीं करना चाहिए। हम पाखाना साफ करते हैं, इस पर विचार करें तो जानेंगे कि यह करना हमारा धर्म है। साफ करने का अर्थ है, पूरी सफाई करना, ठीक तौर से ढकना, सफाई के औजारों को सही रखना, क्या पाखाना किसी बीमार का है इत्यादि। यह सब तो उससे ही हो सकता है, जो सेवा भाव से यह काम करे। इसलिए ज्यों-ज्यों अपने कार्य में विचार से काम लेता जाएगा, त्यों-त्यों वह सुधरेगा, सहज होगा, और मन ऊबने के बजाए उसमें रस आएगा। पाखाने के बारे में जितनी बातें सोची जा सकती हैं, सब नहीं बताई गई हैं, सिर्फ उदाहरण दिया गया है। यही बात प्रार्थना की है। प्रार्थना क्या है, प्रार्थना, किसलिए की जाती है, मौन क्यों रखते हैं, प्रार्थना संस्कृत में क्यों हो? आदि अनेक बातों का विचार करके हम प्रार्थना को प्रचंडशक्ति बना सकते हैं। किंतु प्रायः ऐसा विचार करते हुए लोगों को कम पाया गया है। “योग कर्मसु कौशलम्।” यह गीता का विचार है। योग का अर्थ है, जुड़ना। ईश्वर के साथ जुड़ जाने का नाम योग है। कर्म कौशल से वह सहज ही आता है। कौशल प्राप्त करने वाले को अपने कर्म में तन्मय, अर्थात् विचार में होना ही चाहिए। इसलिए विचार भी सद्विचार, धार्मिक भावनामय होना चाहिए। (गांधी, 1932 अगस्त 28)

“वाचन मिथ्या बिना विचार।” विचार करना ‘सीखना’ है। (गांधी, 1932 अगस्त 14) बिना विचार का वाचन भी एक प्रकार का रोग है। (सुजाता, 2012) विचार दो तरह के होते हैं:—1. निरर्थक, और 2. सार्थक। निरर्थक विचार किसी के दिमाग में करोड़ों हो सकते हैं, मगर उसका कोई महत्व नहीं होता लेकिन एक ही शुद्ध, सार्थक, और अंतर्मन की गहराई से निकला हुआ तथा व्यक्ति के समग्र अस्तित्व की एकाग्र प्रेरणा से उत्पन्न विचार गतिशील होकर बीजयुक्त अंडाणु की तरह नई शक्ति उत्पन्न करने का काम करता है। (सुजाता, 2012) सही-गलत व निकम्मे विचार तो बहुत लोग किया करते हैं। वह तो पागलपन है। कितने ही विचारों के भँवर में पड़कर निराश हो जाते हैं, और आत्मघात भी कर बैठते हैं। (गांधी, 1932 अगस्त 14) “उठ

जाग मुसाफिर भोर भाई अब रैन कहाँ जो सोवत है?” अरे मुसाफिर, उठ सवेरा हुआ। अब रात कहाँ है जो तू सोता है? इतना समझ कर जो बैठ जाता है उसने पढ़ा, लेकिन विचार नहीं किया; क्योंकि वह सवेरे के समय उठकर ही अपने आप को कृतार्थ मान लेता है। किन्तु जो विचार करना चाहता है, वह तो अपने-आप-से पूछता है— मुसाफिर यानी कौन? सवेरा हुआ क्या अर्थ? रात गई का अर्थ क्या? सोना क्या है? ऐसा सोचें तो रोज एक पंक्ति से अनेक अर्थ निकाललें और समझें कि मुसाफिरयानी जीव मात्र। जिसे ईश्वर पर आस्था है उसके लिए सदा सवेरा ही है। रात का अर्थ, आराम भी हो सकता है और जो जरा भी गाफिल लापरवाह रहता है उस पर यह पंक्ति घटित होती है। जो झूठ बोलता है वह भी सोया हुआ है, यह पंक्ति उसे भी जगाने वाली है। यह तो मैंने जबान पर चढ़ी हुई मिसाल दे दी है। (गांधी, 1932 अगस्त 21) जिन्हें पढ़ने की आदत होती है, उन्हें यदि पढ़ने के लिए नहीं मिले तो विक्षिप्त हो उठते हैं। लेकिन यदि उन्हें सही विचार करने की लत हो तो उनके पास विचार पोथी हर समय रहती है। (सुजाता, 2012)

विचार समाज-पोषक होता है और समाज-नाशक भी होता है, दैवी होता है और आसुरी भी होता है। हर एक काम करते हुए हम विचार करें, इतना ही काफी नहीं है। वह विचार सबके हित का भी हो, केवल अपने ही स्वार्थ का नहीं। जो केवल अपने ही स्वार्थ के लिए प्रयास करता है, वह दूसरों का नुकसान तो करता ही है साथ में अपने स्वार्थ को भी अंत में पूरा नहीं कर सकता। (गांधी, 1932 सितम्बर 11)

इस दृष्टिबिंदु को सामने रखकर हर एक अपने हर काम, व हर उद्योग के विषय में विचार करे और बुद्धिपूर्वक काम करे, तो वह उत्तम शिक्षा लेता है, अपने काम को रस में बनाता है, अपनी बुद्धि का विकास करता है, अपने हृदय को विशाल बनाता है और शुद्ध करता है, कार्य में कुशलता प्राप्त करता है, और उसमें ऐसी खोजें व सुधार करता है जिससे समाज का कल्याण हो। फल यह होता है कि अपने काम में उसका रस बढ़ता है, इससे उसको आनंद होता है, थकावट नहीं आती, और कार्य कलामय हो जाता है। फिर भले ही वह किसी भी प्रकार का कार्य हो; चाहे पाखाना साफ करना हो, गली सड़क की सफाई करना हो, साग-तरकारी काटना हो, या गोशाला का हो, किताबें लिखने का हो, या कोई भी हो। जिसकी दृष्टि पारमार्थिक बन जाती है, उसे एक भी काम नीचा या नीरस नहीं जान पड़ता। जो सामने आए उसी में वह ईश्वर देखेगा, ईश्वर की सेवा देखेगा। उसका रस काम के, व जाति वर्ग के ऊपर आश्रित नहीं होता। उसका रस उसके अंतर से, व उसकी कर्तव्यपरायणता से निकलता है। जो अनासक्ति योग को समझना व साधना चाहता हो, उसके लिये हर एक काम इसी तरह करना उचित है। (गांधी, 1932 सितम्बर 11)

आचार और विचार में सम्बन्ध

विचार का अर्थ है— विश्वास, धर्म, मत। जैसे, ईसाई मत में ईसा मसीह को एकांतिक ईश्वर मानना, इस्लाम में ईश्वर को अद्वैत और मोहम्मद साहब को पैगंबर मानना, हिंदू धर्म में मेरे विचार के अनुसार सत्य और अहिंसा की श्रेष्ठता मानी गई है क्योंकि 'सत्यात् नास्ति परो धर्मः', अर्थात्, 'अहिंसा परमो धर्मः'। (गांधी, 1924, अप्रैल 27)

सारा संसार पूर्वोक्त तीन सिद्धांतों को मानता है। (गांधी, 1924, अप्रैल 27)

आचार का पालन करने वाले तथा उसका निरादर करने वाले, दोनों, आचार के अर्थात्, सदाचारके पुजारी हैं। (गांधी, 1924, अप्रैल 27)

परंतु आचार की पूजा करते हुए हमें विचार की शुद्धता की आवश्यकता को भुला नहीं देना चाहिए। जहां विचार में दोष होगा, वहाँ आचार अंतिम सीढ़ी पर नहीं चढ़ पाएगा। (गांधी, 1924, अप्रैल 27)

उच्च—से—उच्च विचार अर्थात्, विश्वास और उसका उच्च—से—उच्च आचार। यह धर्म का अर्थ है: 'यतो धर्मस्ततो जयः'। (गांधी, 1924, अप्रैल 27)

ज्ञान व व्यवहार

गांधी के अनुसार सत्य के दो पहलू हैं, एक सैद्धान्तिक ज्ञान व व्यवहार, तथा दूसरा विचार व कर्म। वास्तविक ज्ञान और मनुष्य जीवन को अलग—अलग नहीं किया जा सकता है। उन्होंने सत्य को मनुष्य जीवन में अपनाने के लिये कहा, जैसा कि बुद्ध व सुकरात ने किया था। इनका मानना था कि जो ज्ञान जीवन में शुभ उत्पन्न करके जीवन को ऊँचा नहीं कर सकता, वो ज्ञान मात्र एक बौद्धिक क्रिया है— नैतिकता उत्पन्न करने वाला नहीं है। (वर्मा, 2013) ज्ञान का रूप अनंत होता है। ज्ञान का आधार जीवन ही है। (वर्मा, 2013) ज्ञान रचनात्मक या विध्वंसात्मक दोनों ही हो सकता है। ज्ञान अधोगतिकारी और उर्ध्वगतिकारी हो सकता है। ज्ञान की रचनात्मकता / विध्वंसात्मकता या अधोगतिकारिता / उर्ध्वगतिकारिता इस बात पर निर्भर होती कि व्यक्तिगत, समष्टिगत और सृष्टिगत जीवन को किस मनोवृत्ति से देखा जाता है। (वर्मा, 2013)

जिस ज्ञान में नम्रतानहीं व कोमलता नहीं, तो उस ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है। (सुजाता, 2012)

अक्षर ज्ञान कैसे हो? पूर्वोक्त बातों के होने पर इस बहम की {अर्थात्, शिक्षा शालारूपी मकान और सिखाने वाले शिक्षक के} जड़ कट जाती है। हमें अक्षर ज्ञान की जिज्ञासा हो, तो हमें जानना चाहिए कि वह हमें अपने ही यत्न से प्राप्त करना है; उसके लिए अवकाश है ही; अक्षर ज्ञान की समस्या हल हो जाती है। जिसके पास अक्षर—ज्ञान है वह दूसरों को यथा समय देते चलें और दूसरे लेते जाएं। (गांधी, 1932 जुलाई 10) शिक्षक की सहायता ली जा सकती है। इस सहायता के सहारे नया सीखने वाला आगे बढ़ता है। (गांधी, 1932 जुलाई 10)

देख-रेख/रखवाली के रूप में जो है वह दोषपूर्ण स्थिति है। दूसरा आदमी अपना काम ठीक तरह से करता है या नहीं, इसकी निगरानी रखना बुरा है। बच्चों की भी ऐसी ही निगरानी रखना बुरी बात है। इस बुराई से निकल जाने का रास्ता हमें ढूँढना चाहिए। इस तलाश की पहली सीढ़ी यह है कि जहाँ देख-रेख रखी जाती हो उन कार्यों को नोट कर लो, उनमें से उन-उन कामों को नोट कर लें जिनके बारे में कर्ता के साथ सलाह-मशवरा किया जा सकता है, उनके साथ मशवरा करो और फिर उन्हें उनके विवेक पर छोड़ दो। परमात्मा बहुत बड़ा साक्षी है। बच्चों को भी ईश्वर की उपस्थिति का भान अभी से होना चाहिए। यह कोई वहम कीचीज नहीं है, और अनिश्चित नहीं है। अपने अस्तित्व पर, अपने निजी अस्तित्व का, जितना विश्वास हमें है, उतने ही विश्वास की यह बात है। इस सुझाव पर सब लोग विचार करते रहें और उस पर जहाँ तक अमल करना संभव है, वहाँ तक करना अपना धर्म है। (गांधी, 1932 जुलाई 10)

विवेकरूपी राजा इंद्रियरूपी अपने मंत्रियों के हाथ में सोलह आने है। आदमी प्रायः उसी दिशा में तर्क नहीं करता, जिस दिशा में उसकी इंद्रियां उसे ले जाती हैं। (गांधी, 1926 जुलाई 29)

बुद्धि को पथप्रदर्शक कैसे करार दिया जा सकता है? तथा छोटे बच्चे के विचारशक्ति पर अधिक जोर डालना कहाँ तक वांछनीय है?

गांधी ने अवगत कराया कि महान सुधारक रूसी ने कहा है कि बचपन बुद्धि की सुषुप्तावस्था है। इसलिए वह बाल्यकाल में अच्छी आदतों को महज सिखाने के पक्ष में है। (गांधी, 1926 जुलाई 29)

निसंदेह लड़कों को किसी महात्मा के हुक्म के अनुसार काम करना सिखाना और फिर खास तौर पर तब जबकि उस महात्मा के उपदेश में शारीरिक-श्रम के लिए स्थान हो- तो एक अच्छी आदत का ही डलवाना है। (गांधी, 1926 जुलाई 29) जब कोई बात कारण सहित इस हद तक बिलकुल अच्छी तरह से बतलाना संभव नहीं हो कि बच्चे भी उसे खूब अच्छी तरह उसे समझ सकें, तो किसी विद्वान के नाम पर उसे बताने और तदनुसार कार्य करने की शिक्षा देने का कोई कारण नहीं है। अक्सर करके तो यह विधि भ्रमात्मक हुआ करती है। (गांधी, 1926 जुलाई 29) जिस मनुष्य के मन में कभी कोई प्रश्न ही नहीं उठता, वह उन्नति कैसे कर सकता है? (सुजाता, 2012)

जो कुछ पुराना है जो कुछ पुराना है, वह सब पवित्र है या वह सब दूषित है ये दोनों बातें दोषयुक्त हैं। (सुजाता, 2012) प्रत्येक युग में आचार-व्यवहार में थोड़ा बहुत अंतर होता ही है, जैसे जाड़े के कपड़े गर्मी में निरुपयोगी हो जाते हैं। उसी प्रकार प्रायः एक युग की प्रथाएं दूसरे में निरुपयोगी और हानिकर हो जाती हैं। (सुजाता, 2012) गुण-दोष विशेष रूप से बाहरी कार्य की अपेक्षा आंतरिक भाव में होता है। किसी भी कार्य की परीक्षा कर्ता के भाव को देखकर की

जा सकती है। माता का सविकार स्पर्श उसे स्वर्ग प्रदान करवाता है। द्वेष भाव से चलाई छुरियां प्राण हर लेती हैं, प्रेम भाव से लगाई छुरी प्राणदान करती है। बिल्ली के वही दांत चूहे के लिए घातक, परंतु अपने बच्चों के लिए रक्षक होते हैं। (सुजाता, 2012)

श्रद्धा

गांधी ने लोगों को बुद्धिप्राप्ति से पहले श्रद्धावान होने के लिये कहा है। क्योंकि श्रद्धा बुद्धि से बड़ी है।

श्रद्धा का साधारण अर्थ विश्वास है। किंतु श्रद्धा ऐसी चीज के बारे में होती है जिसे बुद्धि द्वारा और इंद्रियों के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता है। श्रद्धा व्यक्ति के अंतःकरण से पैदा होती है; अतः इसकी अनुभूति होती है, इसे अनुभव से जाना जाता है, अर्थात् श्रद्धा आत्मानुभूति संबंधी है, न कि बुद्धि या इंद्रियों संबंधी। श्रद्धा की चाह भी नहीं की जाती है। श्रद्धा तो आत्मानुभूति की अदृश्य शक्ति होती है। श्रद्धा व्यक्तियों में उनके अंदर के सूक्ष्म आत्म के ज्ञान को बढ़ाती है; अर्थात्, अंतर्ज्ञान का विकास होता है। श्रद्धा अलग-अलग व्यक्तियों की अलग-अलग होती है और इसलिए किसी एक व्यक्ति की श्रद्धा की नकल दूसरे को नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह अंधविश्वास होगा और इस का परिणाम खराब होगा। श्रद्धा से व्यक्तियों में नैतिक गुण व नैतिक मूल्य उत्पन्न होते हैं और उनका अच्छा चरित्र बनता है। इसलिए श्रद्धा से नीति की समझ व नीति के नियमों का पालन सरल व संभव होता है। श्रद्धा अपराजेय होती है। लोग श्रद्धा को भक्ति व सत्संग द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। श्रद्धा का आशय बुद्धि नहीं है, वस्तुतः श्रद्धा बुद्धि से भी अधिक बलवान होती है, और इस प्रकार श्रद्धा द्वारा वह प्राप्त किया जा सकता है जिसे बुद्धि कदापि नहीं पा सकती है, क्योंकि श्रद्धा अंतर/हृदय/आत्मतत्त्व से उत्पन्न होती है और इसलिए श्रद्धा में आत्मबल होता है। और इसीलिए श्रद्धा, अर्थात् आत्मबल, शारीरिक व बौद्धिक बलों से बहुत अधिक शक्तिशाली होती है। श्रद्धा का बल बुद्धि आदि के बलों से इसलिये बहुत ज्यादा होता है क्योंकि बुद्धि की अशक्यता की स्थिति में श्रद्धा ही मानव कल्याणकारी होती है। इसलिए सत्य / ईश्वर / सृष्टि को समझने के लिए श्रद्धा अवश्य होना चाहिए, क्योंकि बुद्धि न तो ईश्वर को जान सकती है, न ही ईश्वर की सत्ता को नकार शक्ति है, और न ही लोगों को सत्य / सृष्टि / ईश्वर पर श्रद्धा रखने के कारण प्राप्त होने वाले फायदों को नकार सकती है या निराधार साबित कर सकती है। (गांधी, 1929 सितम्बर 19)

नीति नियम क्या हैं?

साधारण सद्गुणों के अभ्यास से ही उच्चतर जीवन उपलब्ध होता है और अगर यह हम उच्चतर जीवन प्राप्त नहीं करते, तो हमारा पूजा पाठ करना भी व्यर्थ है। (सुजाता, 2012)

गांधी के अनुसार अग्रवर्णितग्यारह(11)सद्गुण हैं:—(1) सत्य, (2) अहिंसा, (3) ब्रह्मचर्य, (4) अस्तेय, (5) अपरिग्रह (6) अस्वाद, (7) अभय, (8) शारीरिक श्रम, (9) स्वदेशी, (10) अस्पृश्यता निवारण, (11) सर्वधर्म समभाव। (वर्मा, 2013)

उल्लेखनीय है कि गांधी ने इनको व्यवहार के नियम व नीति के नियम कहा है।

उल्लेखनीय है कि गांधी द्वारा बताये गये उपरोक्त ग्यारह सद्गुणों में से सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा अस्तेय नामक पाँच सद्गुणों को जैन धर्म में मनुष्य के लिये पाँचव्रत कहा गया है। (वर्मा, 2013)

गांधी के अनुसार, ब्रह्मचर्य का आशय मात्र जनेन्द्रिय का निग्रह ही नहीं है, बल्कि ब्रह्मचर्य का आशय इन्द्रियनिग्रह करना व ब्रह्म या सत्य की चर्चा करना और इसकी साधना करना भी है।

गांधी के अनुसार, अस्वाद से आशय रसेन्द्रिय का निग्रह है। (वर्मा, 2013)

भय से ही विचार/ क्रिया के माध्यम हिंसा होती है। (वर्मा, 2013)

दूसरों के शरीरश्रम पर जीवनयापन करना भी एक प्रकार की चोरी है, इसलिये शारीरिक श्रम करके जीवनयापन करना चाहिये। स्वधर्म या स्वदेशी को गांधी ने महाव्रत माना है और इस महाव्रत में देश से प्रेम, व ईश्वर से प्रेम निहित है। (वर्मा, 2013)

दुर्भाग्यवश, पाखंड को मिटाने का कोई उपाय नहीं है। किंतु सद्गुण को इस भय से दबाना नहीं चाहिए कि बहुत से लोग सद्गुणी होने का स्वाँग करेंगे। (सुजाता, 2012) जहाँभलाईनहीं, वहाँ इंद्र का सिंहासन भी निरर्थक समझना चाहिए। (सुजाता, 2012) जिसने आदर करनानहीं सीखा, उसे आदर नहीं मिलता। (सुजाता, 2012) दूसरों को अपमानित करके लोग अपने को सम्मानित नहीं कर सकते हैं। (सुजाता, 2012)

आप अपने अंदर 3 गुण विकसित करें:—1. मर्यादा, 2. संयम, और 3. चरित्र—बल। (सुजाता, 2012)। (सुजाता, 2012) के अनुसार ज्ञान का महत्व और उचित उपयोग तभी होता है जब वह ज्ञान नम्रता और कोमलता के साथ युक्त हो।

उपरोक्त सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – प्रमुख पाँच धर्मों/ पतंजलि के यम – के बारे में गांधी के विचार 'मंगल प्रभात' (गांधी, 1958) नामक पुस्तक में पाये गये हैं। इस पुस्तक में इन धर्मों को व्रत कहा गया है। ये व्रत वास्तव में नीति व नियम हैं, नीति नियम हैं। अज्ञानता या अन्यथा यदि कोई अपने कर्तव्यों या नियमों का पालन नहीं कर पाता है, तो उस व्यक्ति को नियमों को व्रत मान कर उन नियमों / नीति के नियमों का पालन करना चाहिये। गांधी ने इन नियमों का लोगों को पालन करने की शिक्षा उनके द्वारा लिखित पत्रों के माध्यम से दी थी, जब गांधी यरवदा जेल में कैद थे। उपरोक्त प्रमुख पाँच धर्मों/ पतंजलि के यम के अलावा गांधी के सात अन्य नियमों / नीति के नियमों का उल्लेख भी उक्त मंगल प्रभात में है। इस प्रकार, गांधी ने 'सत्य' को सर्वप्रथम नीति माना तथा इस सत्य की ओर चलने के लिये

आवश्यकरूप से पालनीय ग्यारह नीति नियम बताये हैं, अर्थात् कुल बारह नीति/नीति नियम। ये ग्यारह नीति नियम हैं:—

1. अहिंसा, 2. ब्रह्मचर्य, 3. अस्वाद, 4. अस्तेय, 5. अपरिग्रह, 6. अभय, 7. अछूतपन मिटाना, 8. शारीरिक मेहनत, 9. नम्रता, 10. स्वदेशी तथा 11. सर्वधर्म—समभाव।

चूँकि इसी शोध प्रबन्ध में आगे के प्रश्न, अर्थात् उक्त प्रत्येक नीति नियम का अर्थ क्या है, के उत्तर में उक्त ग्यारह नीति नियम पर विस्तार में लिखा गया है और विश्वविद्यालय नियमों में पुनरावृत्ति की अनुमति नहीं है, अतः नीचे पहले गांधी की दृष्टि की सत्य की संकल्पना की विस्तार में किये गये अध्ययन का ही जिक्र किया जा रहा है तथा साथ ही उक्त ग्यारह नीति नियम के बारे में संक्षेप में लिखा जा रहा है:

सत्य

साधारणतः, सत्य का मतलब है कि व्यक्ति के विचारों में सच्चाई हो, उसके बोलने में सच्चाई हो, और व्यवहार करने में सच्चाई हो। किंतु सत्य इससे बहुत बड़ी बात है, और वह यह है कि सत्य को ईश्वर भी कहते हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि सत्य बिना किसी का भी कोई काम नहीं चलता, इसलिए सत्य परम—ईश्वर है। इसलिए हर एक को हमेशा सत्य परमेश्वर मानना चाहिये। सिर्फ यही नहीं, व्यक्तियों को यह समझना चाहिए कि उनका अस्तित्व सिर्फ सत्य की भक्ति के लिए ही है, सत्य के लिए ही सभी का हर काम हो, हर एक प्रवृत्ति हो और उसी के लिए सभी सांस लें। सत्य की भक्ति का आशय है, सत्य की आराधना, अर्थात् सत्य की भक्ति। और भी, शुद्ध—ज्ञान वहाँ ही है, जहाँ सत्य है। जहाँ सत्य मौजूद नहीं है, शुद्ध—ज्ञान कभी वहाँ हो ही नहीं सकता। अतः सत्य—शुद्ध—चित्त है, ज्ञान—शुद्ध है और जहाँ सत्य—ज्ञान है, वहाँ ही आनंद होता है। जहाँ सत्य—ज्ञान है, वहाँ शोक, दुःख व कष्ट आदि हो ही नहीं सकते हैं, क्योंकि सत्य सार्वकालिक है, इसलिए आनंद भी सार्वकालिक है, और इसी कारण से परम—ईश्वर को सत्—चित्त—आनंद, सच्चिदानंद, कहते हैं। हर व्यक्ति के लिए अलग—अलग सत्य होता है, अर्थात् जो एक व्यक्ति के लिए सत्य है वह दूसरे व्यक्ति के लिए असत्य हो सकता है। इसलिए जिसको जैसा भी सत्य अनुभव हो, उसके अनुसार उसको व्यवहार करने में दोष नहीं है; वही उसका फर्ज है; किंतु उसमें स्वार्थ की गंध कदापि भी नहीं होना चाहिए। सत्य में इतनी शक्ति है कि उसका पालन ही अनेक नीतियों का पालन करवा देता है। और सत्य के पालन के लिए अलग से कोई शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती है। विदित है कि सत्य में से ही अहिंसा की नीति निकलती है और इसी कारण सत्य को साध्य कहते हैं और अहिंसा को साधन कहते हैं। (गांधी, 1958)

सत्य का पालन कैसे हो?

तत्काल जो समस्याएं रोज हमारे सामने आकर खड़ी हो रही हैं उनमें हम सत्य का पालन करें तो कठिन अवसरों पर क्या करना होगा इसका ज्ञान हमें अपने आप हो जाएगा। इस दृष्टि से हममें से हर एक को केवल अपने-आप-को ही देखना है। अपने विचार से मैं किसी को ठगता हूँ। अगर मैं 'ब' को खराब मानता हूँ और उस को बताता हूँ कि वह अच्छा है तो मैं उसे ठगता हूँ। बड़ा या भला कहलाने की इच्छा से जो गुण मुझ में नहीं हैं उन्हें दिखाने की कोशिश करता हूँ? बोलने में अतिशयोक्ति करता हूँ? किए हुए दोष जिस को बता देने चाहिये उसे छिपाता हूँ? मेरा साथी या अफसर कुछ पूछता है तो उसके जवाब में बात को उड़ा देता हूँ? जो कहना चाहिए उसे छिपाता हूँ? इनमें से कुछ भी करते हैं तो हम असत्य का आचरण करते हैं, यों हर एक को रोज अपने-आप-से हिसाब लेकर अपने-आप-को सुधारना चाहिए। जिस को सच बोलने की आदत पड़ गई हो, ऐसी स्थिति हो गई हो कि असत्य मुँह से निकल ही न सके, वह भले ही अपने-आप-से रोज हिसाब न माँगे; पर जिसमें लेशमात्र भी असत्य हो या जो प्रयत्न करके ही सत्य का आचरण कर सकता हो उसे तो ऊपर बताई हुई रीति से यही या इस तरह के जितने सूझें उतने सवालों का जवाब रोज अपने-आपको देना चाहिए। यों जो एक महीना भी करेगा उसे अपने-आप-में हुआ परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देगा। (गांधी, 1932 जुलाई 3)

ईश्वर तथा सत्य

(वर्मा, 2013)ने पाया है कि गांधी ने ईश्वर को सत्य, सबसे बड़ा शासक, ब्रह्मांड को रचने वाला, पूरे ब्रह्मांड में समाया हुआ, सभी जीव-निर्जीव में विद्यमान, स्थिर आदि रूपों में व्यक्त किया था, इस पर पूरी श्रद्धा व इस पर पूरा विश्वास रखते थे, और मनुष्य के अंदर उक्त ईश्वर के एक प्रकाश के रूप में स्थित मानते थे। ईश्वर की मौजूदगी की अनुभूति की जा सकती है और इसके अस्तित्व को मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा नहीं जान सकता है।

सत्य साध्य है

गांधी के अनुसार सत्य ही ईश्वर है। सत्य वह है जिसका अस्तित्व हो। गांधी ने ईश्वर को सत्-चित्-आनन्द कहा है। उनका कहना है कि जहाँ सत्य है, वहीं शुद्ध ज्ञान/चित्त है, और जहाँ शुद्ध चित्त/ज्ञान है, वहीं आनन्द है। अतः सत्/सत्य, चित्त/ज्ञान और आनन्द एक ही तत्व के समंग हैं। इसीलिये, उन्होंने कहा है कि सत्य विश्व का और सभी धर्मों का आधार है। सत्य ही सभी धर्मों का ईश्वर है। लोगों की कल्पना में ईश्वर के अलग-अलग रूप हो

सकते हैं, किन्तु सत्य की कल्पना एक ही है। ईश्वर ही परम सत्ता है। सत्य और ईश्वर में तादात्म्य है। इसलिये सत्य—सिद्धि ही ईश्वर सिद्धि है। (वर्मा, 2013)

सत्य के प्रकार

सत्य के दो प्रकार हैं—(1) निरपेक्ष सत्य, और (2) सापेक्ष सत्य। (वर्मा, 2013)

निरपेक्ष सत्य साध्यरूप होता है और सार्वभौम व देशकाल के परे होता है। इसके अन्तर्गत सत्य को ईश्वर माना जाता है और शुद्ध ज्ञान/चित्त होता है। इसको भौतिक सत्यापन सम्भव नहीं होता है, अर्थात् शारीरिक ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों द्वारा इसका ज्ञान नहीं हो सकता है। हालांकि दैहिक सीमाओं में इसका पूर्ण रूप से साक्षात्कार सम्भव नहीं है, परन्तु विधिवत् सदाचार, जो कि सत्य का नैतिक पक्ष व व्यवहारिक दोनों पक्ष है, द्वारा निरपेक्ष सत्य को जानने की दिशा में बढ़ा जा सकता है। लेकिन ऐसा सदाचार मन—वचन—कर्म, समग्र तीनों द्वारा होना आवश्यक है, और वो भी तप और त्याग से। ऐसा क्यों? क्योंकि निरपेक्ष सत्य जानने के लिये आत्मशुद्धि, मोहविहीनता तथा स्वार्थविहीनता होना आवश्यक है। सत्य दर्शन में मोह और स्वार्थ ही बाधक होते हैं। (वर्मा, 2013)

तप से आत्मशुद्धि होती है और त्याग से मोह तथा स्वार्थ भावना से दूर होते हैं। निश्चित है कि सत्य से परिचित व्यक्ति सत्य के विपरीत कार्य नहीं कर सकता है। (वर्मा, 2013)

नरक से अभिप्राय क्या है? असत्य।(सुजाता, 2012) अफवाह सुनना नहीं और सुन भी लें तो मानना नहीं। झूठ आत्मा को खा जाता है, और सत्य आत्मा को पुष्ट करता है। (सुजाता, 2012)

साधन है, सत्याग्रह

जीवन का श्रेष्ठ आदर्श? सत्याग्रह है।(सुजाता, 2012)गांधी के अनुसार सभी को ईश्वर के दर्शन करना और सभी की सेवा करने से ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है। किन्तु, यह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति आत्म संयमित रह कर स्वयं को आत्मशुद्ध करें और स्वयं को ईश्वर को समर्पित करे और ईश्वरीय दया प्राप्त करे। विशुद्ध प्रेम और अहिंसा के साधनों से साध्य ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। (वर्मा, 2013)

सत्य सर्वव्यापी है, ईश्वर है, ज्ञान और कर्म क्षेत्र में भी व्याप्त है। सत्य के प्रति आग्रह व सत्य को कर्म के क्षेत्र अथवा अपने जीवन में उतारने के सतत् प्रयत्न को सत्याग्रह कहते हैं। सत्य का निर्भीक आचरण सत्याग्रह है। सत्याग्रह के मुख्य अंग है:— प्रेम, एकता, सहृदयता और सहयोग। प्रश्न उठता है, सत्याग्रह करने वाले में क्या होना चाहिये? सत्याग्रह करने वाले से क्या अपेक्षाएँ होती हैं? पहली बात तो यह आवश्यक है कि सत्याग्रह के लिये आत्मशुद्धि आवश्यक है। एक सत्याग्रही को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का पालन होना

चाहिये। सत्याग्रही को पाप से और दुष्कर्म से घृणा होनी चाहिये, पाप/दुष्कर्म करने वाले से नहीं; क्योंकि सत्य ही ईश्वर है और प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का अंश है, इसलिये किसी मनुष्य से घृणा करने का मतलब हुआ सत्य से, ईश्वर से घृणा करना। (वर्मा, 2013) सत्याग्रही का धर्म सत्य होना चाहिये व असत्य अधर्म होना चाहिये, और उसको कर्मों के परिणामों की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। सत्याग्रही अन्याय, अत्याचार, क्रूरता आदि का मुकाबला अहिंसापूर्वक करता है, चाहे उक्त अन्याय आदि उसके साथ हो रहे हों या अन्य के साथ। (वर्मा, 2013) सत्याग्रही को द्वेष, काम, क्रोध, घृणा आदि बुराईयों को प्रेम से जीतना चाहिये। (वर्मा, 2013)

सत्य किन्तु अहिंसामय व प्रिय

ऐसा विचार करने का रिवाज सा पड़ गया दिखाई देता है कि सच बोलने के लिए मनुष्य को अप्रिय भाषा का प्रयोग करना चाहिए, इस सत्य के बावजूद भी कि जब सत्य अप्रियता के साथ में उपस्थित करते हैं, तब उसको हानि पहुँचती है। यह ऐसा ही है, जैसे कि शक्ति को सहारा देना। सत्य स्वयं ही पूर्ण शक्तिमान है, और जब कड़े शब्दों के द्वारा उसकी पुष्टि का प्रयत्न किया जाता है तब वह अपमानित होता है। मनुष्य को सत्य-प्रिय-मृदु भाषा में बोलना चाहिए। यदि मृदुलता से ऐसा न कर सके, तो बेहतर है कि वह चुप रहे। जो व्यक्ति अपनी जिह्वा को कब्जे में नहीं रख सकता, उसमें सत्य का अधिष्ठान नहीं है। अहिंसाशून्य-सत्य सत्य नहीं बल्कि असत्य है। सत्य वही होता है जो कि कभी कठोर नहीं होता और हमेशा प्रिय और हितकर होता है। (गांधी, 1925 सितंबर 17) यदि कोई अपनी बात दृढ़तापूर्वक कहता है, तो ऊपर से देखने पर लोग कभी-कभी कठोरता मान लेते हैं। लेकिन अच्छी तरह से देखा जाए तो ऐसी दृढ़ता में शुद्ध कोमलता रहती है। कांपते हाथों से नस्तर लगाने वाला डॉक्टर अंततोगत्वा रोगी को अधिक दुख देने वाला साबित होता है। हाथों से कस कर नस्तर लगाने वाला डॉक्टर आरंभ में भले ही दुख देने वाला मालूम पड़े, किंतु अंत में उसकी क्रिया से सुख ही मिलता है। (सुजाता, 2012)

“*सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्*” का भावार्थ यह है कि सत्य को सदा अहिंसामय होना चाहिए। आलोचना करने की अहिंसक भाषा सीखनी चाहिए। मधुर भाषा क्रोधमुक्त हुए बिना नहीं आती। (सुजाता, 2012) “*सत्यं प्रियं*” का अर्थ है मनुष्य को सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए, अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि सत्य को सदा अहिंसामय होना चाहिए। आलोचना करने की अहिंसक भाषा सीखनी चाहिए। (सुजाता, 2012)

आखिर पूर्ण सत्य को जानता ही कौन है? (गांधी, 1925 सितंबर 17) व्यवहार में तो सत्य सिर्फ एक सापेक्ष शब्द है। कटुता से कल्पनापथ मलिन हो जाता है और इस कारण मनुष्य उस

मर्यादित सत्य को भी देखने में उस हद तक असमर्थ हो जाता है, जिस हद तक कि शरीर से अंधा मनुष्य देख पाए। (गांधी, 1925 सितंबर 17)

मेरा ख्याल है कि दुष्ट मनुष्य को तो हम क्षमा करें, मगर उस की दुष्टता को निकालने में जरा भी रियायत न करें। अगर हमने किसी चीज को बुरा मान लिया है, तो तबतक हमारा ख्याल कायम रहे जबतक उस बुरी बात की साफ-साफ शब्दों में निंदा करना सौम्य स्वभाव से असंगत नहीं है। और यदि आगे चलकर हमें मालूम हो कि हमारा ख्याल गलत था तो उस पर अफसोस करने का कोई कारण नहीं है क्योंकि पूर्ण सत्य के पास पहुंचने की कोशिश में हमें समय-समय पर सापेक्ष सत्य से काम चलाना पड़ेगा। (सुजाता, 2012)

सत्य कैसे प्राप्त हो?

मौलाना रूम ने कहा है:- तू अपने होंठ बंद रख, आँख बंद रख, कान बंद रख और इतने पर भी तुझे सत्य का गूढ़ फायदा नहीं मिले, तो मेरी हंसी उड़ाना। मौलाना के अनुसार, कार्य भले ही नहीं कर पायें, किन्तु लोगों को कम-से-कम असत्य या कटु वचन नहीं बोलना चाहिये, कान से किसी की निंदा या गंदी बातें नहीं सुनना चाहिये, आँख से अपनी इंद्रियों को विचलित करने वाली कोई चीज नहीं देखना चाहिये, सत्य ही बोलना चाहिये, सत्य ही सुनना चाहिये, आँख से ईश्वर की दया माया समझना चाहिये, और संतजनों के दर्शन करना चाहिये। और जो ऐसा करेगा वही सत्य का दर्शन कर सकेगा। (गांधी, 1939 जुलाई 19)

अब उक्त सत्य की ओर चलने के लिये आवश्यक रूप से पालनीय गांधी द्वारा प्रतिपादित ग्यारह नीति नियम को संक्षेप में निम्नप्रकार व्यक्त किया जाता है:-

गांधी द्वारा प्रतिपादित ग्यारह नीति नियम- संक्षेप में

अहिंसा एक साधन है, सृष्टि व सृष्टि रचयिता व परिपालक-सत्य जिसके ऊपर मनुष्य अपनी दखलअंदाजी नहीं कर सकता है- की प्राप्ति का व उसका अनुगमन करने का। और इसलिए मनुष्य के जीवन में पालन करने वाला सबसे पहला महत्वपूर्ण और कभी नहीं टाले जा सकने वाला कर्तव्य है, धर्म है, नियम है, नीति नियम है। अहिंसा का पालन करना पुराने शास्त्रों, उपनिषदों, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, आदि सांसारिक धर्मों में भी कहा गया है। अहिंसा को इसके व्यावहारिक अर्थ के अनुसार अनिवार्य रूप से प्रयोग करना होता है क्योंकि हिंसा का पूर्ण आभाव प्रकृति की व्यवस्था के अंदर संभव नहीं है। अनिवार्य व्यावहारिक अहिंसा विवेक के साथ, दया भाव रखते हुए, व स्वाभाविक रूप में सभी को करना चाहिये। अहिंसा का प्रयोग स्वयं के लाभ या स्वयं कुछ उपयोगिता/प्रतिफल प्राप्त करने के लिए नहीं किया जाकर, अहिंसा को हर स्थिति, हर समय, व हर जगह प्रयोग करना सभी को अपना एक कर्तव्य मानकर करना चाहिये।

अहिंसा का अर्थ है, सभी से हर समय हर जगह प्रेम करना और वह भी पूरा का पूरा प्रेम करना। किसी को किसी भी प्रकार से शारीरिक, मानसिक, आर्थिक हानि न पहुँचाने का विचार नहीं लाना और हानि नहीं पहुँचाना अहिंसा है।

अपने सहित किसी के बारे में खराब विचार नहीं रखना;

झूठ नहीं बोलना;

किसी से घृणा व ईर्ष्या नहीं करना; किसी के गुणों व उसकी सांसारिक संपन्नता व उसको सुखी देखकर मानसिक विकार नहीं होना;

किसी से दुश्मनी नहीं होना;

आत्मबल प्राप्त कर रखना;

संयमित रहते हुए व प्रेम पूर्वक कष्टों को साहसपूर्वक व निडरतापूर्वक सहने की शक्ति रखना तथा दूसरे जीवन निर्जीव के दुखों को दूर करने में अपने प्राण भी न्योछावर करना, अर्थात् आत्मबलिदान करना;

दुष्कर्म का पशुबल (शारीरिक, अस्त्र शस्त्र आदि का बल) से नहीं बल्कि आत्म बल से सामना करना;

शरीर के लिए वर्तमान में निहायत जरूरी वस्तुओं से अधिक वस्तुओं एकत्र नहीं करना;

दूसरे जीव निर्जीव को स्वयं से भय मुक्त करना;

किसी की बेइज्जती नकरना;

किसी को अपशब्द व अप्रिय वचन नहीं बोलना;

किसी की चुगली नहीं करना;

स्वयं के लिए अच्छा लेकर/रखकर दूसरों को तुच्छ सामान नहीं देना;

यदि किसी को खाने हेतु कुछ देना है, तो स्वयं के द्वारा खाए जाने वाली किस्म से खराब किस्म की वस्तु नहीं देना;

अपना कार्य स्वयं न करने की चोरी कर उस कार्य को दूसरों के कंधे पर नहीं डालना;

दूसरों की बीमारी में सेवा देखभाल करना;

स्वयं को अच्छा न लगने वाली किसी भी बात से या अच्छा न लगने वाले किसी जीव-निर्जीव से चिड़ उत्पन्न नहीं होना;

लोगों की जरूरत की चीजों को अपने अधिपत्य में नहीं रखना आदि उदाहरण हैं अहिंसा के व्यवहार के।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है, हर कार्य व व्यवहार सृष्टि तथा सृष्टि रचयिता व परिपालक के अनुसार ही करना। ऐसा कार्य शरीर और मन दोनों में समन्वय रखने पर संभव होता है, और इसके लिए व्यक्ति को अपने शरीर को वश में करके मन को वश में रखना चाहिए।

अस्वाद का अर्थ है कि जितना शरीर बनाए रखने के लिए आवश्यक हो, उतनी ही वस्तुएं— न कम, न ज्यादा— बिना किसी भी मीन-मेख के और बिना मन के वशीभूत होकर रुचिपूर्वक व संतोषपूर्वक दवा की तरह खाना।

अस्तेय का अर्थ है, वस्तु या विचार की चोरी नहीं करना। जरूरत से ज्यादा वस्तु नहीं लेना; वस्तु के मालिक की अनुज्ञा के बिना किसी भी वस्तु को न लेना; लावारिस वस्तु को भी नहीं लेना; वर्तमान में शरीर संधारण के लिये आवश्यक वस्तुओं के अलावा किसी चीज को पाने की इच्छा न करना; किसी पर बुरी नजर न डालना, तथा दिमाग में भविष्य में किसी चीज को प्राप्त करने की इच्छा न करना आदि उदाहरण हैं अस्तेय नियम की पालना के। अस्तेय नियम की अनुपालना करने के लिए व्यक्ति को दिन पर दिन अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करते रहना चाहिए।

अपरिग्रह का अर्थ है, अपनी जरूरत की चीजों से ज्यादा चीजें संचित/इकट्टा नहीं करना। शरीर को भी संचित मानते हुए उसके भी परित्याग करने को तत्पर रहना भी अपरिग्रह का उदाहरण है। विचारों का परिग्रह नहीं करना भी इस नियम की पालना करना है। इस नियम की पालना सरल करने के लिए व्यक्ति को अपनी इच्छा से अपनी आवश्यकताओं को दिन पर दिन कम से कम करते रहना चाहिए।

अभय नामक नीति नियम का अर्थ है कि व्यक्ति को अपने को तमाम प्रकार के डर से मुक्त रखना। डर पशुवत है, मनुष्य के लिए नहीं है। मनुष्य में आत्मबल होने के कारण मनुष्य में डर नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह हर स्थिति का सामना अपने आत्मबल से करता है नकि किसी और प्रकार की सांसारिक शारीरिक या आर्थिक शक्ति से। डर बहुत से प्रकार के होते हैं; जैसे मौत का डर, धन संपदा का लुट जाने का डर, रोग का डर, इज्जत खराब हो जाने का डर, किसी की भावना को चोट पहुँचने का डर, शरीर का डर, मौत का डर, लंबे समय से स्वयं से घृणा करने वाले विरोधी की सोच का डर।

छुआछूत मिटाना। इस नीति नियम का अर्थ है कि व्यक्ति को सभी समय व सभी जगह व सभी स्थितियों में सभी जीव-निर्जीव को अपना जैसा समझें और उनसे उसी प्रकार व्यवहार करे जैसा व्यक्ति स्वयं के लिये करवाना से चाहता है। अर्थात्, भेदभाव को मिटाना ही अर्थ है छुआछूत मिटाने के नियम का।

शारीरिक मेहनत या जात मेहनत नामक नीति नियम का अर्थ है कि व्यक्ति को अपने खाने-पीने वाली चीजों को खुद शारीरिक मेहनत करके पैदा करना व खाना चाहिए। जो व्यक्ति बिना परिश्रम किए खाता है, उसे पाप खाने वाला समझा जाता है।

नम्रता नामक नीति नियम का अर्थ है, 'मैं-पन', 'मेरा-पन' या 'मेरी-पन' की भावना का जड़ से समाप्त होना। सभी व्यक्तियों का कर्तव्य है कि संसार के सभी जीव-निर्जीव की सेवा करने के

लिए वह सब कुछ अपना न्यौछावर कर दे। किसी से अप्रिय बोलना या किसी को अपशब्द कहना नम्रता नियम का उल्लंघन है।

स्वदेशी नियम का अर्थ है कि व्यक्ति को अपने अंदर मौजूद सूक्ष्म तत्व का भान हो और शरीर रूपी स्थूल चीज को महत्व न दे। और संसार में उपलब्ध समस्त भौतिक वस्तुओं को अपना न समझें। इस प्रकार के नियम की पालना से व्यक्ति दूसरों की सेवा करना ही अपना धर्म कर्म मानता है।

सर्वधर्म-समभावनियम का अर्थ है कि हर व्यक्ति को सांसारिक सभी धर्मों को अपने धर्म जैसा ही मानना चाहिए क्योंकि उसके खुद के धर्म सहित संसार के सभी धर्मों को मानव ने बनाया है और इसलिए वे सभी दोष युक्त हैं।

‘मंगल प्रभात’ में वर्णित गांधी के उपरोक्त नीति/ नीति के नियमों से सम्बन्धित वर्णन जो गांधी के अन्य साहित्यों में भी प्राप्त हुआ है, उनका जिक्र निम्नलिखित है:-

आत्मबल

‘चाहे कितने ही प्रहार करो, बिना भय के, बिना वैर करके, उन्हें झेलने के लिए यह सीना खुला हुआ है।’ डर ऐसे दूर होता है। (गांधी, 1915 अगस्त 27) मैं यह नहीं चाहता कि भारत दूसरे राष्ट्रों की चिता-भस्म पर खड़ा हो। मैं चाहता हूँ कि भारत आत्मबलप्राप्त करे और दूसरे राष्ट्रों को भी बलवान बनाए। दूसरे राष्ट्र हमें बल का मार्ग दिखा रहे हैं। इसीलिए मुझे इस अचल सिद्धांत का आश्रय लेना पड़ा है कि मैं कभी उस विधान को स्वीकार नहीं करूँगा जिसका आधार पशुबल हो। हमारे सब पार्थिव-शस्त्र बेकार हुए हैं और किसी नए शस्त्र को खोजें। चलो अब प्रेम का शस्त्र व सत्य का शस्त्र लें। और यह शस्त्र जब हमें मिल जाएगा, तब हमें दूसरे किसी शास्त्र की जरूरत नहीं रहेगी। (गांधी, 1915 अगस्त 27)

थोड़ा सा विचार करने पर यह मालूम होगा कि मनुष्य इस संसार में दूसरे अनेक प्राणियों पर जो अधिकार प्राप्त किए हुए हैं वह केवल संयम, त्याग, आत्म-बलिदान, यज्ञ और कुर्बानी के कारण ही प्राप्त किए हुए हैं। (गांधी, 1926 अप्रैल 29)

पशु की तुलना में मनुष्य में बहुत ही अधिक विकार होता है। दोनों में जो विकार हैं, उनकी तुलना ही नहीं की जा सकती है। जो मनुष्य विकारों को अपने वश में नहीं रख सकता है, वह मनुष्य ईश्वर को पहचान ही नहीं सकता। जो लोग ईश्वर का अस्तित्व अथवा आत्मा और देह की भिन्नता को स्वीकार करते हैं, और उसका विकास करना चाहते हैं, उन्हें यह समझाने की कोई आवश्यकता नहीं होगी कि देह का दमन किए बिना आत्मा की पहचान और उसका विकास असंभव है। देह या तो स्वच्छंदता का भाजन होगी अथवा आत्माकी पहचान करने के लिए तीर्थ-क्षेत्र होगी। यदि वह आत्मा की पहचान करने के लिए तीर्थ क्षेत्र है, तो स्वेच्छाचार के

लिए उसमें कोई स्थान ही नहीं है। देह को प्रतिक्षण आत्मा के वश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। (गांधी, 1926 अप्रैल 29)

डार्विन ने कहा है कि जो काम भला और सच्चा है उसे अपनी इच्छा से अचल रहकर ही करने में ही हमारी भलाई है; नहीं तो बर्बादी। हमें देखना चाहिए कि हमारी वृत्ति किस रास्ते जाना चाहती है, और उसी रास्ते पर हमें समझदारी के साथ चलना चाहिये या व्यवहार करना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा कि मनुष्य और दूसरे प्राणियों में जीने की चाह होती है, किन्तु इस संघर्ष में शक्तिशाली जीवित रहता है और जो कमजोर होते हैं वह जड़ मूल से नष्ट हो जाते हैं; किन्तु इस संघर्ष में हम केवल शरीर-बल से टिक नहीं सकते। उदाहरण बतौर:- शरीर-बल में रीछ या भैंस मानव से अधिक शक्तिशाली हैं, फिर भी अपनी बुद्धि की बदौलत मनुष्य उन दोनों से अधिक बली है। यही सिद्धान्त मानव-जाति की अलग-अलग कौमों पर भी लागू होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नीति-बलशरीर-बल और बुद्धिबल दोनों से बढ़कर है, और नीति-बलशाली-स्वभाव, नीतियुक्त मनुष्य अयोग्य से अधिक टिक सकता है। डार्विन ने यह भी कहा कि शांत-स्वभावनीतियुक्त, नशामुक्त, अव्याभिचारी, निस्वार्थबुद्धियुक्त तथा परमार्थ-बुद्धियुक्त मानव का नाश नहीं होता है उन्होंने यह भी अवगत कराया कि पशुओं में भी एक सीमा तक परमार्थ बुद्धि देखने में आती है। भीरु स्वभाव वाले पक्षी भी अपने बच्चों की रक्षा करने के समय बलवान बन जाते हैं। यदि प्राणीमात्र में परमार्थ बुद्धि थोड़ी-बहुत भी नहीं होती, तो आज दुनिया में घासपात और जहरीली वनस्पतियों के सिवा शायद ही कोई जीवधारी होता। इस प्रकार, यह पाया जाता है कि मनुष्य दूसरे प्राणियों की तुलना में सबसे अधिक परमार्थी है और इसी कारण नीति के पालन में, दूसरों की भलाई के लिये, अपने बच्चों के लिए, और अपने देश के लिए, मनुष्य अपनी जान कुर्बान करता आया है। इस प्रकार डार्विन स्पष्ट कहते हैं कि नीति-बल सर्वोपरि है। उदाहरण बतौर:- ग्रीस की जनता यूरोप की जनता से अधिक बुद्धिमान होने के बावजूद भी नीति के मार्ग का त्याग करने के कारण नष्ट हो गई। जातियाँ व प्रजायें न तो धन से टिकती हैं और न ही सेना से। वह एक मात्र नीति की नींव पर ही टिक सकती हैं। अतः मनुष्यमात्र का कर्तव्य है कि इस विचार को सदा मन में रखकर परमार्थरूप परमनीति का आचरण करें। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

बुद्धि बनाम श्रद्धा :- (श्रद्धामय होना चाहिये व्यक्ति को)

जहाँ बुद्धि निरुपाय उपाय हो जाती है, वहाँ श्रद्धा का आरंभ होता है। अर्थात्, श्रद्धा अलग है बुद्धि से। जो श्रद्धा अंधी है, वह श्रद्धा ही नहीं है। आकाश-कुसुम को मानना श्रद्धा नहीं, बल्कि घोर अज्ञान है क्योंकि आकाश में पुष्प है या नहीं, यह बात बुद्धिगम्य है और बुद्धि द्वारा इसका अस्तित्व सिद्ध हो सकता है। इसके विपरीत, हम जब यूँ कहते हैं कि ईश्वर है, तब हमारे कथन के अस्तित्व को कोई सिद्ध नहीं कर सकता। (गांधी, 1929 सितम्बर 19)

बुद्धिवाद से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का कोई भले ही कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, किन्तु हर एक मनुष्य के दिल में इस विषय की शंका तो फिर भी बनी ही रहेगी। दूसरी ओर करोड़ों का अनुभव ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करता है। किसी भी मामले में श्रद्धा की पुष्टि में अनुभूत ज्ञान होना आवश्यक है; क्योंकि अन्ततः श्रद्धा तो अनुभव पर ही आधारित है, और जिसे श्रद्धा है उसे कभी-न-कभी अनुभव होगा ही। परंतु श्रद्धावान कभी अनुभव की आकांक्षा नहींकरता; क्योंकि श्रद्धा में शंका को स्थान ही नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रद्धामय मनुष्य जड़रूप है, या जड़ बन जाता है। जिसमें शुद्ध-श्रद्धा है, उसकी बुद्धि तेजस्वी रहती है। (गांधी, 1929 सितम्बर 19)

श्रद्धावान स्वयं अपनी बुद्धि से जान लेता है कि जो वस्तु बुद्धि से भी अधिक है व परे है, वह श्रद्धा है। जहाँ बुद्धि नहीं पहुँचती, वहाँ श्रद्धा पहुँच जाती है। बुद्धि की उत्पत्ति का स्थान मस्तिष्क है, और श्रद्धा की उत्पत्ति का स्थान हृदय है। और यह जगत का निरंतर अनुभव रहा है कि बुद्धि-बल से हृदय-बल हजारों गुना अधिक है। श्रद्धा से जहाज चलते हैं, श्रद्धा से मनुष्य पुरुषार्थ करता है, श्रद्धा से वह पहाड़ों-अंचलों को चला सकता है। (गांधी, 1929 सितम्बर 19)

तात्पर्य यह है कि श्रद्धा वालों को कोई परास्त नहीं कर सकता। बुद्धिमान को हमेशा पराजय का डर रहता है। बालक प्रहलाद में बुद्धि की कमी हो सकती थी, किन्तु उसकी श्रद्धा मेरु के समान अचल थी। (गांधी, 1929 सितम्बर 19)

श्रद्धा में विवाद को स्थान ही नहीं। इसलिए एक की श्रद्धा, दूसरे के काम नहीं आ सकती है। एक मनुष्य श्रद्धा से नदी पार कर जाएगा, मगर दूसरा, जो अंधा अनुकरण करेगा, अवश्य डूबेगा। इसी कारण, कृष्ण ने गीता के सत्रहवें अध्याय में कहा है:— 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' — अर्थात्, जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह बनता है। तुलसीदास की श्रद्धा अलौकिक थी, और उन्होंने अपनी श्रद्धा से रामचरितमानस ग्रंथ-रत्न भेंट किया है। रामचरितमानस विद्वतापूर्ण ग्रंथ है; किन्तु उसकी भक्ति के प्रभाव के मुकाबले उसकी विद्वता का कोई महत्व नहीं रहता। (गांधी, 1929 सितम्बर 19)

श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र अलग-अलग हैं। श्रद्धा से अंतर्ज्ञान व आत्मिक-ज्ञान की वृद्धि होती है, किन्तु उसका अंतः-शुद्ध के साथ कार्य-कारण जैसा कोई संबंध नहीं रहता। अत्यंत बुद्धिवान लोग अत्यंत चरित्र-भ्रष्ट भी पाए जाते हैं; किन्तु श्रद्धा के साथ चरित्र-शून्यता होना असंभव है। एक बालक श्रद्धा की पराकाष्ठा तक पहुँच सकता है, और फिर भी उसकी बुद्धि मर्यादित रह सकती है। (गांधी, 1929 सितम्बर 19)

मनुष्य यह श्रद्धा कैसे प्राप्त करे?

इसका उत्तर गीता में है, रामचरितमानस में है। भक्ति से व सत्संग से श्रद्धा प्राप्त होती है। जिन-जिन लोगों ने सत्संग किया है, उन्होंने अग्रलिखित अमृतवचन का अनुभव अवश्य किया होगा:- 'सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम?' (गांधी, 1929 सितम्बर 19)

स्नेह / प्रेम / सहानुभूति / द्वेष / घृणा

पश्चिम के देशों में साधारणतया यह माना जाता है कि बहुसंख्यक लोगों का सुख, उनका अभ्युदयबढ़ाना मनुष्य का कर्तव्य है। सुख का अर्थ केवल शारीरिक सुख और धन का सुख समझा जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करने में नीति के नियम भंग होने की ज्यादा परवाह नहीं की जाती है। पश्चिम देशों में अल्प संख्यको को दुख पहुँचा कर भी बहुसंख्यको को सुख दिलाने में कोई बुराई नहीं मानते हैं। लोग विदेश जाते हैं धन के लिए। उसकी और अर्जन के नशे में नीति को भूल जाते हैं, ईश्वर को भूल जाते हैं, और स्वार्थ में लिप्त हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि हमें विदेशों में रहने से लाभ के बदले बहुत हानि होती है, अथवा विदेश यात्रा का पूरा पूरा लाभ नहीं मिलता। सभी धर्मों में नीति का अंश तो रहता ही है, किन्तु साधारण बुद्धि के अनुसार भी नीति का पालन आवश्यक है। जॉन रस्किन ने दावा किया है कि सुख नीति के पालन में है। जॉन रस्किन ने पश्चिम वालों की आँखें खोल दी। परिणामतः यूरोप व अमेरीका के भी बहुत से लोग उनकी शिक्षा के अनुसार चलने लगे हैं। सुकरात ने भी मनुष्य को नीति के अनुसार चलना उचित कहा है। रस्किन ने सुकरात की बात का विस्तार कर दिया। रस्किन ने बताया कि भिन्न-भिन्न व्यवसायों को करने वाले लोगों को किस तरह व्यवहार करना चाहिये। रस्किन ने जो कहा उसका उद्देश्य सभी का कल्याण करना और अल्पसंख्यको व बहुसंख्यकों, दोनों, के उत्थान व उदय करना था। (गांधी, 2011)

लौकिक नियम बनाने वाले कहते हैं कि पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति तो एक आकस्मिक वस्तु है, और इस प्रकार की भावना मनुष्य की साधारण प्रकृति की गति में बाधा पहुँचाने वाली मानी जानी चाहिए। जबकि लोभ और विकसित होने की इच्छा हमेशा बनी रहने वाली वृत्तियाँ हैं। इसलिए, आकस्मिक वस्तु से दूर रखकर मनुष्य को धनअर्जन व संचय करने की मशीन मानते हुए केवल इसी बात पर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार के श्रम और किस प्रकार के लेनदेन के रोजगार से व्यक्ति अधिक से अधिक धन एकत्र कर सकता है इस तरह के विचारों के आधार पर व्यवहार की नीति निश्चित कर लेने के बाद ही पारस्परिक स्नेह-भावना-सहानुभूति दिखानी चाहिये। (गांधी, 2011) किन्तु यदि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति के नियम और महत्व धन, सोहरत, सम्पदा आदि के नियम व महत्व जैसे ही होते तो ऊपर की दलील उचित कही जा सकती है। किन्तु, मनुष्य की भावना उसके अंदर का बल है और व्यापार व व्यवसाय का नियम एक सांसारिक नियम है। पारस्परिक भावनारूपी आत्मिक शक्ति और मानव व्यवहार में लेनदेन के नियम की शक्ति दोनों अलग-अलग हैं। भावना का असर दूसरे ही

प्रकार का होता है और साथ ही दूसरी तरह से पड़ता है। मानव-भावना से मनुष्य का रूप ही बदल जाता है। वस्तु विशेष और इस वजह से किसी पर पड़ने वाले भिन्न-भिन्न शक्तियों के असर के आकलन करने नियम से भावना के प्रभाव का आकलन नहीं कर सकते हैं। मनुष्य की भावना के प्रभाव की जांच पड़ताल या आकलन करने में लेन-देन, खरीदी-बिक्री या मांग उत्पत्ति के नियम का ज्ञान कुछ कम नहीं आता है। (गांधी, 2011)

यदि व्यायाम-शिक्षा यह मान ले कि मनुष्य के शरीर में केवल मांस ही है, अस्थि पंजर नहीं है और फिर नियम बनाए तो उसके नियम ठीक भले ही हो किन्तु ऐसे नियम अस्थिपंजर वाले मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते हैं। उसी तरह लौकिक शास्त्र के नियम ठीक होने पर भी भावना से बंधे हुए मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते। मनुष्य की भावना की उपेक्षा करके लौकिक शास्त्र के बनाये गये नियम, मनुष्य के लिए बेकार हैं। लोग जानते हैं कि उसमें जीव है फिर भी वह उस का विचार नहीं करते; लेकिन उनके इस प्रकार विचार न करके बनाये गये लौकिक नियम मनुष्य पर, जिसमें जीव/ आत्मारूप की प्रधानता है, लागू कदापि नहीं सकते हैं। (गांधी, 2011)

अर्थशास्त्र कोई शास्त्र नहीं है। जब तक हड़ताले होती हैं, तब तब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अर्थशास्त्र बेअसर व बेकार है। उस वक्त मालिक कुछ सोचते हैं, और नौकर कुछ और सोचते हैं; उस समय हम लेन-देन का या अर्थशास्त्र का एक भी नियम लागू नहीं कर सकते हैं—क्योंकि हड़तालों का सम्बन्ध मानव-भावनाओं, विचार, सोच, स्वार्थ आदि से होता है। इस बात पर अन्य कल्पित तरह से विचार करें कि मनुष्य और पशु में कोई अंतर नहीं है। तो इस तरह के विचार का परिणाम यह निकलेगा कि मनुष्यों को पशुओं की तरह अपने-अपने स्वार्थ के लिए लड़ना ही चाहिए। किन्तु इसके बाद भी यह बात नियम रूप में नहीं कही जा सकती कि मालिक और नौकर के बीच सदा ही मतभेद रहना चाहिए या नहीं रहना चाहिए। क्योंकि अवस्था के अनुसार इस भाव में परिवर्तन हुआ करते हैं। (गांधी, 2011)

तो उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि लेन-देन के नियम के आधार पर किसी शास्त्र की रचना नहीं की जा सकती है। ईश्वरीय नियम ही ऐसा है जो कि उपयोगी है और यह नियम इंगित करता है कि धन की घटती-बढ़ती के नियम पर मनुष्य का व्यवहार नहीं चलना चाहिए। क्यों? क्योंकि ईश्वरीय नियम न्याय का नियम है और सर्वव्यापक है, व मानव के नियन्त्रण के परे हैं। इसलिए मनुष्य को समय देखकर नीति या अनीति के आधार अपना स्वार्थ पूरा करने का विचार एकदम त्याग देना चाहिए। यह बात बिल्कुल सही है कि किसी प्रकार के आचरण करने पर अंत में क्या फल होगा इसे कोई भी हमेशा नहीं बता सकता, किंतु यह तो मनुष्य हमेशा जान सकता है कि कोई काम न्याय संगत है या न्याय विरुद्ध है। जैसे हम यह कह सकते हैं कि नीति पथ पर चलने का फल अच्छा ही होना चाहिए, हालांकि यह हम नहीं कह सकते कि वह फल क्या होगा व किस तरह मिलेगा। (गांधी, 2011)

नीति-न्याय के नियम में पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का समावेश हो जाता है और इसी भावना पर मालिक नौकर का संबंध आश्रित होता है। नौकर को अधिक वेतन मिले तो दूसरी नौकरी कर लेने की उसे स्वतंत्रता है, और इस तरह कम से कम दाम में अधिक से अधिक काम लेने में मालिक को लाभ होता है और अंत में इससे नौकर को भी लाभ ही होता है— यही अर्थशास्त्र कहता है। (गांधी, 2011)

लेकिन यह बात ठीक नहीं है। नौकर अगर मशीन होता और उसे चलाने के लिए मानव-भावना, स्नेह-प्रेम को छोड़कर अन्य किसी विशेष प्रकार की ही शक्ति की आवश्यकता होती तो यह कहना (अर्थशास्त्र) ठीक हो सकता था। किंतु यहाँ तो नौकर को संचालित करने वाली शक्ति उसकी आत्मा है, और आत्मा का बल तो अर्थशास्त्रियों के सारे नियमों को गलत बना देता है। मनुष्यरूपी मशीन में धनरूपी कोयला झोंककर अधिक से अधिक काम नहीं लिया जा सकता है। मनुष्य अच्छा काम तभी दे सकता है, जब उसकी सहानुभूति जगाई जाए, नौकर और मालिक के बीच धन का नहीं प्रीति का बंधन हो। (गांधी, 2011)

सच्चा नियम तो यह है कि दो समान चतुर मालिक और दो समान नौकर की स्थिति में भी हम देखेंगे कि सहानुभूति वाले मालिक का नौकर सहानुभूतिरहित मालिक के नौकर की तुलना में अधिक और अच्छा काम करता है। (गांधी, 2011)

सेना और सेना नायक का उदाहरण लेकर भी विमर्श करते हैं। जो सेना नायक अर्थशास्त्र के नियमों का प्रयोग कर अपनी सेना के सिपाहियों से काम लेना चाहेगा, वह निर्दिष्ट काम उनसे नहीं ले सकेगा क्योंकि सेनापति और सैनिकों के बीच स्नेह-सहानुभूति का बल ही वास्तविक बल है। लुटेरों और डाकुओं का उदाहरण लें तो पाया जाता है कि लुटेरों तथा डाकुओं का दल भी अपने सरदार के प्रति पूर्ण स्नेह-सहानुभूतिपूर्ण रखता है। लेकिन मिल, कारखानों आदि के मालिकों और मजदूरों में हमें इस तरह का पूर्ण स्नेह-सहानुभूति व घनिष्टता नहीं दिखलाई देती है। कारण? एक कारण तो यह है कि इस तरह के कारखाने में मजदूरों के वेतन का आधार लेन-देन के माँग-पूर्ति के नियमों पर रहता है, और इसलिए मालिक और मजदूरों के बीच प्रीति के स्थान पर अप्रीति बनी रहती है और सहानुभूति की जगह उनके संबंध में विरोध व प्रतिद्वंद्विता दिखाई देती है। (गांधी, 2011)

मैंने अनेक बार यह देखने की कोशिश की है कि मैं अपने शत्रु से ग्रहण कर सकता हूँ या नहीं — यह देखने का नहीं कि प्रेम कर सकता हूँ या नहीं, पर यह देखने की कि घृणा कर सकता हूँ या नहीं। और मुझे ईमानदारी के साथ तथा पूरी नम्रता के साथ कहना चाहिए कि मुझे नहीं मालूम हुआ कि मैं शत्रु से घृणा कर सकता हूँ। मुझे यह याद नहीं आता कि कभी भी मनुष्य के प्रति मेरे मन में तिरस्कार उत्पन्न हुआ हो। मैं नहीं समझ सकता कि यह स्थित मुझे किस तरह प्राप्त हुई है। बंधुत्व का अर्थ यह नहीं है कि जो आपके भाई बने, या जो आपको चाहे, उनके

ही आप भाई बने। यह तो सौदा हुआ और बदला हुआ। बंधुत्व में व्यापार नहीं होता। मेरा धर्म तो मुझे यह शिक्षा देता है कि बंधुत्व मनुष्यत्व के साथ नहीं, प्राणी-मात्र के साथ होना चाहिए। सब धर्म प्राणी-मात्र के बंधुत्व का उपदेश करते हैं। यदि हम अपने शत्रु के साथ भी प्रेम करने के लिए तैयार न हो, तो हमारा बंधुत्व एक ढकोसला है। (गांधी, 1915 अगस्त 27)

अत्याचारी परप्रेम किस तरह करें?

पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। हम सब पापयुक्त हैं, फिर भी हम चाहते हैं कि संसार हमें सहन करें और निबाहे। हम प्रेम तभी करें, जब किसी में गुण हों। तो क्या इसे प्रेम कह सकते हैं? यदि मैं अपने धर्म का पालन करने वाला हूँ और यदि मैं मानव जाति के प्रति अपना कर्तव्य पालन करता हूँ, तो मुझे मनुष्य जाति की दोष-पात्रता और अपने विरोधियों की न्यूनता और पाप के देखने पर उनके प्रति घृणा नहीं करनी चाहिये, बल्कि प्रेम करना चाहिए। मैंने तो प्रचलित शासन प्रणाली को राक्षस कहा है और अब भी कहता हूँ। परंतु इस कारण से यदि मैं उसके संचालकों को सजा दिलाने का षड्यंत्र रचने लगूँ तो बस मेरा खात्मा समझिये। असहयोग द्वेष या घृणा का मंत्र नहीं है, बल्कि प्रेम का मंत्र है। इस प्रेम मंत्र के रहस्य के विषय में तो बिल्कुल संदेह ही नहीं है। इसका रहस्य यह है कि स्वयं कष्ट उठाकर विरोधी को जीतना स्वयं संकट सहन कर जालिमको नम्र बनाना है। सत्याग्रह का रहस्य यही है कि जो धर्म पिता और पुत्र में है, वही एक समूह का दूसरे समूहों के प्रति और शासक और शासित में पालन किया जाए। पुत्र अपने पिता के प्रति और पिता अपने पुत्र के प्रति अपनी आँख मूँद कर रखे, तो उनका प्रेम अंधा है। किन्तु उसके पाप को जानते हुए यदि प्रेम से उसे जीते, तभी उस प्रेम में विवेक है। यह विवेकयुक्त प्रेम, सुधारक का प्रेम है और यह प्रेम सब दुखों के निवारण की कुंजी है। (गांधी, 1925 सितम्बर 10)

त्याग

जो व्यक्ति जेब में पड़ी बीड़ी अथवा बोतल में पड़ी शराब को पीने के बाद बीड़ी अथवा शराब को छोड़ने का विचार करता है, वह उसे कभी छोड़ ही नहीं सकता। पीने वाला जब अपने पास पड़ी हुई बीड़ी और शराब को छोड़ देता है, तभी मुक्त होता है। (सुजाता, 2012) जीने का मजा, जीने की जंजाल छोड़ने में है। भोग को मनुष्य नहीं भुगतता, बल्कि भोग मनुष्य को भुगतता है—अर्थात् खा जाता है। (सुजाता, 2012)

समानता

यानी; *समानता-असमानता बनाम ऊँचा-नीचा दर्जा*

क्या सब लोग एक जैसे हो सकते हैं?

मेरे साथ रहने वाले सब लोग मेरे जैसे ही होने चाहिए, ऐसा बिल्कुल नहीं है और यह इष्ट भी नहीं है। यह तो केवल नकल करने जैसा हुआ। (सुजाता, 2012)

संसार में समानता और असमानता पाई जाती है; लेकिन उसका आशय ऊँच-नीच के भाव में नहीं लेना चाहिए। (गांधी, 1935 फरवरी 22)

जब ईश्वर अनेक रूप धारण करता है, तब उन विविध रूपों में भिन्नता करनी ही पड़ती है, क्योंकि ईश्वर का कोई अंग दूसरे अंगों की अपेक्षा ऊँचा या श्रेष्ठ होने का दावा करे तो उसे सृष्टिकर्ता के विरुद्ध विद्रोह ही कहा जाएगा। कारण? क्योंकि ईश्वर के रूपों के बीच कद-रंग-गुण आदि की भिन्नता चाहे कितनी भी हो, फिर भी दर्जे में तो वह बराबर ही माने जाएंगे। पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, नौकर-मालिक, न्यायाधीश-अपराधी और जेलर-कैदी आदि के बीच अंतर तो है ही; किन्तु जो पति अपनी पत्नी से, मालिक अपने नौकर से, या न्यायाधीश सजा पाने वाले अपराधी से अपने को ऊँचा माने, तो वह अधर्म आचरण होगा। दुनिया का सारा दुःख इसी असमानता की भावना से पैदा हुआ है। (गांधी, 1935 फरवरी 22)

यह कैसे मालूम हो कि कोई किसी को अपने से नीचा मानता है या समान समझता है?

इसका पता इसी से चल सकता है कि पहले मालिक को अपने नौकर के सुख-दुःख का कोई ख्याल नहीं होगा, जबकि दूसरा अपने कुटुंब की तरह उसका ख्याल रखेगा। ईश्वर-परायण कुटुंब में मालिक के बाल-बच्चे पुराने नौकरों को माँ-बाप की तरह मानते हैं, नौकरों के सुख-दुःख में मालिक भी शरीक होते हैं, तथा मालिक के गलत रास्ते पर जाने पर नौकर मालिक को रोकते भी हैं। समानता की यह स्थिति प्रकृति जन्य है, और बुद्धि एवं हृदय रखने वाले मनुष्य की हैसियत से यही हमें शोभा देती है। इसके बावजूद भी हम सब अभी इस स्थिति से दूर हैं। फिर क्या करना चाहिये? हमें अपनी रोजमर्रा के ही जीवन में इसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करना चाहिए, न कि मरने के बाद इसके अनुसार व्यवहार करने की आशा करें। (गांधी, 1935 फरवरी 22)

नीति का एक मापदण्ड है कि सभी मानवमात्र को समान दर्जा दिया गया हो; कोई छोटा-बड़ा नहीं; भले ही व्यक्तियों के पद-अधिकार-सम्मान भिन्न हों, या एक ही तरह के काम करतें हों। उच्च पद-अधिकार-सम्मान वाले व्यक्ति को उसके उच्च पद-अधिकार-सम्मान का गर्व / घमण्ड नहीं होना चाहिए और दूसरे छोटे पद-अधिकार-सम्मान वाले लोगों को अपने से छोटा/भिन्न नहीं मानना चाहिये। पूर्ण साम्यता की स्थिति मानसिक होती है और ऐसी स्थिति को निकाल कर बाहर फेंक देना चाहिये तब ही वह व्यक्ति नीतियुक्त कार्य कर सकेगा। उदाहरण बतौर:-अमेरिका में गोरी जनता द्वारा वहाँ के अस्वेत लोगों के प्रति दमनकारी शासन करना नीतियुक्त नहीं है। कुछ व्यक्तियों के उच्च पद-अधिकार-सम्मान और कुछ का छोटा

पद-अधिकार-सम्मान होना स्वाभाविक है और उनमें बिना भेदभाव किये सभी उच्च-छोटों को नीतियुक्त काम ही करना हो, तो क्या करें? ऐसी स्थिति में उस ऊँची शिक्षा-संस्कार वाले व्यक्तियों का यह कर्तव्य होता है कि नीची जाति वाले व्यक्तियों का उत्थान करके अपने जैसी स्थिति में लायें। इस साम्यता के नियम के पालना का परिणाम यह होगा कि राज्य शासक करने वाला न हो कर जनता का सेवक होगा; अधिकारी भी जनता के सेवक होंगे; जनता को सुखी रखने के काम करने में रत होंगे, न कि अधिकार भोगेंगे। इस सिद्धान्त के पालन से बलवान व्यक्ति दुर्बलों की रक्षा करने का काम करेंगे, न कि दुर्बलों को कुचलेंगे/दलन करेंगे। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

पवित्रता

मलिनता में पवित्रता नहीं होती। मलिनता अज्ञान व आलस्य की निशानी है। (सुजाता, 2012)
स्त्री और पुरुष का सर्वाधिक प्रशंसनीय गुण पवित्रता है। (सुजाता, 2012)

सेवा

नीतिपालन निर्भर इस बात पर है कि नीतिमान सबसे पहले अपने आपको पहचाने, और जब तक वह ऐसा नहीं करेगा तब तक वह दूसरों को नहीं पहचान सकेगा और जब तक दूसरों को पहचान नहीं लेगा, तब तक उनका सम्मान/सेवा नहीं कर सकेगा। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो यह सोचते हैं कि वह तो ईश्वर का प्रकाश है, उसका कुछ नहीं बिगड़ेगा यदि वह दूसरों के प्रति कुछ भला नहीं करता। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो यह सोचते हैं कि उसे उसके आसपास के लोगों के साथ हमदर्दी दिखाना चाहिए व भाईचारा रखना चाहिए आदि। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो यह सोचते हैं कि उसे तो सिर्फ उसके मां-बाप की सेवा, बीबी-बच्चों का भरण पोषण और भाई-बहन व मित्रों के साथ ही उचित व्यवहार करना चाहिए; दूसरों की परवाह नहीं करने की जिम्मेवारी नहीं समझता। स्पष्ट है कि उपरोक्त तीनों तरह के लोगों को नीतिमान नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि ऐसे व्यक्तियों ने पहले अपने आपको नहीं पहचाना, और इसलिये सबका सम्मान/सेवा करना नहीं सीख सके। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

नीति में सार्वजनिक कल्याण समाया हुआ है। न्यायाधीश न्याय बुद्धि का प्रयोग करके अदालत में आने वालों को न्याय प्रदान कर सुखी करते हैं। नीति पालन की यह खास बात है कि इसका फल अकेले नीतिपालक को नहीं मिलता है, बल्कि नीतिपालन का फल तो वस्तुतः दूसरों को ही मिलता है, जैसा कि न्यायाधीश के मामले में हमने देखा। उदाहरण बतौर:- उसी प्रकार, प्रीत, स्नेह, उदारता आदि गुण तथा वफादारी का बल दूसरों के साथ होने पर ही प्रकट किए जा सकते हैं। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

मनुष्य यदि अपने स्वार्थ के लिये काम करे और वह दूसरों के सुख की परवाह नहीं करता, तो निश्चित ही वह पशु-सदृश्य और उससे भी नीच है। मनुष्य पशु से श्रेष्ठ इसलिये कहलाता है, जब वह अपने कुटुंब का बचाव करता है, जब अपने देश या अपनी जाति को अपना कुटुंब मानता है, जब सारी मानव जाति को अपने जैसा ही मानता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मानव जाति की सेवा जब तक व्यक्ति नहीं करता है, तब तक वह पशु है और अपूर्ण है। यदि हममें अपने परिवार के सदस्यों के भला करने की भावना हो और दूसरों के लिए मेरे दिल में दर्द न हो, तो स्पष्ट है कि मुझे मानव जाति के दुःख की अनुभूति नहीं है। अतः जब तक हम हर एक मानवमात्र के प्रति दया न रखें, तब तक यही माना जायेगा कि न तो हमने नीति-धर्म का पालन किया और न ही उसे जाना। और इसलिये यह परम आवश्यक है कि नीति सार्वजनिक होनी चाहिए। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

नीतिपालक में यह भावना होना चाहिये कि उससे संबंध रखने वाला हर व्यक्ति उसके ऊपर ऐसा अधिकार रखता है कि नीतिपालक सदा उस की व हर व्यक्ति की सेवा करते रहे, और नीतिपालक हर व्यक्ति की सेवा करने को अपना फर्ज समझे व उसे निभाये। हमें यह भी सोचकर व्यवहार करना चाहिए कि हमारा हक किसी दूसरे के ऊपर नहीं है। जब मनुष्य इच्छापूर्वक, सोच-समझकर; बिना खुद के लाभ/हानि को ध्यान में रखे और खुद की जान की परवाह नहीं करते हुये; दृढ़ निश्चय से सर्वस्य बलिदान की भावना के साथ दूसरों की सेवा करता है, तब कहा जा सकता है कि उसने सच्ची नीति का पालन किया है। (सुजाता, 2012)

नीति के नियम सर्वोपरि है, और ईश्वरीय हैं। मानव भी ईश्वरीय है; सभी मानव में ईश्वर विराजमान है। अतः मानव सेवा या परमार्थ करना नीति है, उच्च नीति है। 'मन यह जो तू अपना-अपना कहता है, तेरा सपने के जैसा है। अचानक इस तरह उड़ जाएगा जैसे आग में डाली हुई शराब। तू व्यर्थ 'मेरा', 'मेरा' करता है। तेरी काया शीशे की कुप्पी जैसी है, जिसके नष्ट होते देर नलगेगी। जीव और देह का नाता ही कितना है? एक दिन जीव उसे छोड़कर चल देगा। इस जीवन पर तेरा इतराना व्यर्थ है, अचानक एक दिन अंधकार हो जाएगा। तू चंचल चित्त में चेत कर चल। जो परमार्थ कमा लेगा, वही साथ जाएगा।'। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

जो करना हमें उचित है, उसे करने में नीति है। मानव जाति का भला करने का प्रयास ही ऊँची नीति है। यदि इस नीति का का पालन पूरी तरह से करें तो नीति के दूसरे नियम हमें उसमें स्वतः मिल जाएंगे; उन्हें अलग से खोजने की आवश्यकता नहीं रहेगी। दूसरी ओर अनीति के बीजों को आपसी फूट इत्यादि में देखे जा सकते हैं। अनीति से जन-समाज और कुटुंब दूर हो जाते हैं, टूट जाते हैं। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

किसी कार्य विशेष का करना नीतियुक्त है या नहीं, इसको परखने की कसौटी है कि कार्य विशेष करने वाले के द्वारा दूसरों के भले करने के इरादेसे किया गया है या नहीं। (सस्ता

साहित्य मण्डल, 2013) कहने का तात्पर्य है कि किया हुआ काम का अच्छा होना ही पर्याप्त नहीं है, जबतक कि वह काम हमने अच्छा करने के इरादे से नहीं किया हो। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

उदाहरण:- जब तक हम मशीन के पुर्जे की तरह काम कर रहे हैं, तब तक हमारे काम में नीति प्रवेश करती नहीं है। मशीन के पुर्जे की तरह काम करना हमारा फर्ज हो और हम करें, तो यह विचार नीतियुक्त है; क्योंकि हम उसमें विवेक-बुद्धि से काम लेते हैं। यह यांत्रिक काम और ऐसे काम को करने का विचार करना, इन दोनों बातों में अंतर है। जो आदमी अपनी बुद्धि और दिमाग से काम नहीं लेता और जैसे लकड़ी बहती है वैसे प्रवाह में बहता जाता है, वह नीति को कैसे समझेगा?

नीतियुक्त काम तो अपने स्वभाव से स्वतः होता है, वह हमारा अपना कर्तव्य होता है, वह हमारी इच्छा से किया गया होता है, तथा दूसरों का भला करने के लिये होता है। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

सच्ची नीति के आचरण करने वाले लोगों का झुकाव सदा भला बनने और दूसरों का भला करने की ओर होता है, उसका मूल्य नहीं आँका जाता है व इच्छा रहती है कि सदा और अधिक भला बनें तथा और अधिक भलाई करें। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

ऐसी इच्छा जो अपना निजी स्वार्थ साधने से संबंधित हो, तो ऐसी इच्छा को पूरा करने का प्रयत्न का नाम अनीति है। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013) उदाहरण:- माना कि किसी के पास संपत्ति नहीं है व घर भी नहीं है, तो इसमें कोई लज्जा, शर्म व हीनता नहीं होनी चाहिए, किन्तु यदि घर हो और उसका दुरुपयोग करे या जो व्यवसाय हो उससे लोगों को ठगे, तब निश्चित है कि ऐसा व्यक्ति नीति का पालन नहीं कर रहा है, अनीति कर रहा है। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

प्रश्न है कि स्वयं के प्रति हमारा कर्तव्य क्या है?

प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य कि

- अपने उत्साह को काबू में रखे, अपनी इच्छाओं पर व व्याभिचारिता पर नियन्त्रण रखे, और स्वयं को विषय मार्ग से दूर रखकर अपने शरीर, मन, बुद्धि और प्राण की रखवाली करे, तभी वह बाहर के कार्यों में सफलता प्राप्त कर सकेगा और नीतिपालन कर सकेगा।
- ऐसा व्यक्ति मानव-जाति की सेवा करे और मानव-जाति की स्थिति सुधारने के यत्न में योगदान करे।

- वास्तव में, यदि वो ऐसा करता है तो वह सच्ची ईश्वर स्तुति करता है और ईश्वर का बन्दा होने के कारण सच्ची बंदगी करता है।
- मनुष्य जाति को यथायोग्य स्थित प्राप्त कराने का उद्देश्य हर व्यक्ति अपने सामने रख सकता है और उसका अनुसरण कर सकता है, चाहे वह व्यक्ति वकील हो, या व्यापारी हो। जो व्यक्ति इस सिद्धान्त का पालन करता है, वह कभी नीति-धर्म से विचलित नहीं हो सकता।
- हमेशा अपनी यह जाँच करते रहना चाहिये कि हमारा आचरण सुधार की ओर जा रहा है या बिगाड़ की ओर। व्यापारी को देखना चाहिये कि वह अपने-आपको या दूसरे को ठग तो नहीं रहा है। वकील और डाक्टर देखे कि वह अपने मुक्किल और रोगी के हित-अहित को अधिक-से-अधिक रक्षा कर रहा है कि नहीं। माँ को लगातार देखते रहना चाहिये कि कहीं झूठे स्नेह में या अपने दूसरे स्वार्थ से उसका बच्चे में बिगाड़ न आ जाए। मजदूर भी अपने कर्तव्य का ख्याल रख कर कार्य करेगा। हर व्यक्ति उपर्युक्त नियम निभाने में समर्थ है, चाहे वह किसी भी स्थिति में क्यों न हो। मानव-मूल्य उसके चरित्र और उसके चाल चलन पर आधारित होता है। उसके चरित्र की परख उसके बाहर के कामों से नहीं होती, उसकी अन्तर्वृत्ति जानकर की जा सकती है। उदाहरण बतौर:- एक आदमी एक गरीब को अपनी नजर से दूर करने के लिए एक रूपया देता है, दूसरा उस पर तरस खाकर, स्नेह से आधा रूपया देता है, लेकिन इनमें से आधा रूपया देने वाला नीतिमान है और एक रूपया देने वाला पापी है क्योंकि पहले की नीयत ठीक नहीं थी।
- सारांश यह है कि वह व्यक्ति किसी से द्वेष नहीं करता, जो किसी से नाजायज फायदा नहीं उठाता, तथा जो सदा पवित्र मन रख कर व्यवहार करता है, वही व्यक्ति धार्मिक है और वही सुखी है और वही धनवान भी है। ऐसे ही व्यक्ति से मानव जाति की सेवाबन सकती है। क्यों? उदाहरण लें माचिस का। माचिस में स्वयं अग्नि नहीं होती, तो वह माचिस दूसरी लकड़ी को नहीं सुलगा सकती। और जो खुद डूब रहा हो, वह दूसरे डूबने वाले को नहीं बचा सकता। मतलब साफ-साफ है कि जो व्यक्ति स्वयं नीति का पालन नहीं करता, वह दूसरे लोगों को नीति नहीं सिखा सकता। इमसन का कहना है कि नीतिमान का दुःख भी उस का सुख है और अनीतिमान का पैसा व कीर्ति भी उसके और दूसरों के लिए दुःखदायी है। (सस्ता साहित्य मण्डल, 2013)

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन से गांधी की दृष्टि में नीति का जो अर्थ है वह निम्नलिखित है।

हम सभी सृष्टि में रहते हैं और किसी ने भी आज तक आँखों से देखा नहीं है कि यह सृष्टि किसने बनायी और इस सृष्टि में दिखने वाली व न दिखने वाली क्रियाओं को कौन चलाता है व

किन नियमों से चलाता है। किन्तु सृष्टि है, तो सृष्टि सत्य है। और यदि इस सृष्टि रचयिता व परिचालक को खुदा, अल्लाह, गॉड या ईश्वर या किसी अन्य नाम से सम्बोधित करना भी अनुचित नहीं है। इस प्रकार सृष्टि रचयिता व सृष्टि परिचालक, जो सर्वविदित सत्य है, को गांधी ने अपने वक्तव्यों व लेखन में ईश्वर शब्द से व्यक्त किया है। अतः सत्य ही को ईश्वर कहा है।

हम सभी का फर्ज इसलिये गांधी की दृष्टि से यह है कि समस्त सृष्टि में विद्यमान समस्त जीवमात्र को उस सर्वविदित व सर्वव्यापक सत्य (अर्थात्, ईश्वर) को अपने समान समझें व अपने सहित उन सभी को उक्त सत्य (अर्थात्, ईश्वर) की संतान समझें। जब हम किसी जीव-निर्जीव के कारणतत्त्व सहित उक्त जीव-निर्जीव न तो बना सकते हैं, न उनको बनाने व परिचालित करने वाले सत्य (अर्थात्, ईश्वर) को ऐसा करने से रोक सकते हैं, न ही उसके सृष्टि परिचालन नियमों में दखलान्दाजी कर सकते हैं, और न ही उस सृष्टि रचयिता व परिचालक सत्य (अर्थात्, ईश्वर) पर जोर-जबरदस्ती व अधिकार जता सकते हैं, तब तो हम सबका यही फर्ज बनता है कि उसके विधान को स्वीकारें; कि उसके द्वारा उसकी सन्तानों को अपनी सन्तानों की तरह पालने दें व रख-रखाव करने दें; कि परिणाम स्वरूप हम सभी जीवमात्र व मानवमात्र को भाई-बहिनों की तरह पालें, उनका रख-रखाव करें, उनसे व्यवहार करें, उनका आदर करें, उनसे घृणा-द्वेष न करें, उनकी सेवा करें।

तो इस प्रकार मानव अपने को समझता है व सृष्टि के अन्य जीव-निर्जीव तत्वों को समझता है। मानवमात्र को उक्त सृष्टि रचयिता व परिचालक की अनुपम कृति होने का ज्ञान है, इस दृष्टि से कि मानव में अनुपम व अद्वितीय तरह का मस्तिष्क है; कि मानव में तार्किक विचारशीलता गुण है; कि मानव अपने में उक्त सत्य (ईश्वर) के प्रकाश/वरदान रूप विद्यमान स्थूल (शरीर) और सूक्ष्म तत्वों (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और आत्मा) को समझ सकता है; कि आत्मा (सत्य/ईश्वरीय) व परमात्मा को समझने की शक्ति होती है; कि मनुष्य में पशुओं को उपलब्ध पशुबल (शारीरिक बल) व आत्म बल, दोनों को ही समझे। और इस कारण मानव से अपेक्षा होती है कि वह स्व के बल (यानी आत्मबल) को पहचाने और उसका उपयोग करे। इसी प्रकार अपने शरीर बल (पशुबल) को भी समझे और उसका सदुपयोग करे।

फिर अनेक धर्म हैं और सारे धर्म मनुष्यों ने बनाये हैं, बनते रहे हैं, बनते रहेंगे, जबकि नीति ऐसी नहीं है। नीति के बिना धर्म टिक ही नहीं सकता। नीतिरूपी नींव के दूर जाने से धर्मरूपी मकान भी कुछ समय में ही ढह जायेगा।

गांधी ने धर्म को कर्तव्य के अर्थ में भी प्रयोग किया है यह कहकर कि धर्म के बिना नीति का पालन नहीं किया जा सकता है।

सृष्टिकर्ता सत्य/ईश्वर है और उसके सृष्टि परिचालन के नियम हैं। सृष्टि शासित नियम ही नैतिक नियम हैं व उनको समझना ही नीति है व कर्तव्य (धर्म/ड्युटी) है। चूँकि सृष्टि सत्य है,

इसलिये नैतिक नियम भी सत्य हैं। चूँकि सत्य का क्षय नहीं होता, इसलिये नैतिक नियम भी नष्ट नहीं हो सकते। स्पष्टतः नैतिक नियम मनुष्य के द्वारा बनाये नहीं होते, इसलिये गूढ़ हैं व सर्वव्यापक भी हैं। इसलिये गूढ़ नियम को समझने में मनुष्य भूल भी कर देता है।

(वर्मा, 2013)नें व्यक्त किया है कि गांधी की दृष्टिकोण से मनुष्य की धारणाएं व मनुष्य द्वारा निर्मित नियम परिवर्तनशील हैं, किंतु नीति के नियम हमेशा अपरिवर्तनशील हैं क्योंकि नीति के नियम सृष्टि, जोकि स्वयं में सत्य है और आधुनिक विज्ञान के अनुयायियों व संसार में सभी के दृष्टिकोण से सत्य है, द्वारा बनाए गए हैं और जिसके अनुसार से ही सृष्टि के कार्य होते हैं; अतः सृष्टि व नीति नियम भी सत्य हैं। और उक्त नीति के नियम सारे संसार पर एक समान कार्य करते हैं। उक्त नीति के नियम न्याय पर आधारित होते हैं और इसलिए इसमें किसी का कोई स्वार्थ नहीं होता है, क्योंकि यह नीति के नियम मनुष्य से भिन्न अदृश्य शक्ति के बनाए हुए होते हैं व उसी शक्ति द्वारा इनको व्यवहार में उपयोग किया जाता है और इसीलिए इनके अर्थ को समझना व भिन्न-भिन्न स्थितियों में इनका उपयोग किए जाने की मंशा को पूर्णतौर से समझना मनुष्य के वश में नहीं है और इसी कारण मनुष्य कभी-कभी भ्रम में पड़ जाता है। किंतु मनुष्य की अक्षमताओं के कारण नीति / सत्य / सृष्टि के नियमों को गलत कदापि नहीं समझा जा सकता है। ये नीति के नियम निरंतर कार्य करते रहते हैं और कभी नष्ट नहीं होते हैं।

गांधी की दृष्टि से उक्त सृष्टि शासित (सत्य/ईश्वर) नियम (नैतिक नियम) क्या हैं? नियम का पालन कैसे हो?

स्पष्टतः नीति है, सृष्टि व सृष्टिकर्ता (सत्य/ईश्वर) को समझना व आदर करना, स्व (स्वयं जिसमें शरीर, शारीरिक ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, आत्मा निहित हैं) को समझना शारीरिक बल (पशुबल) को समझना, आत्मा की शक्ति (आत्मबल) को पहचानना, तथा सृष्टिकर्ता (सत्य/ईश्वर/परमात्मा) से जोड़ना सरल व संक्षेप में, सत्य/ईश्वर को पहचानना, और चूँकि सत्य/ईश्वर को कोई देख नहीं पाया या कहें इसका भौतिक सत्यापन सम्भव नहीं है इसलिये निरन्तर सत्य की ओर बढ़ते रहना (यानी, सत्य के आग्रह में लीन/अभ्यस्त रहना, यानी सत्याग्रह में लीन रहना)। मनुष्य को अपने सभी तरह के कार्यों को करने का ध्येय ईश्वर प्राप्ति ही होना चाहिये।

सत्य/ईश्वर की प्राप्ति के लिये क्या कर्म करे?

सत्य/ईश्वर को प्राप्त करने का साधन है सेवा, विश्वव्यापी सत्यरूपी/ईश्वरीय अंशों की सेवा/ और इसलिये मानव के समस्त प्रकार के कार्यों के करने का ध्येय मानव सेवा करना होना चाहिये, और इस कारण से गांधी के अनुसार मानव सेवा ही मनुष्य का परम ध्येय व परम धर्म है जिससे परिणामतः सृष्टिकर्ता, सर्वव्यापी, व विश्वव्यापी, सत्य ईश्वर की सेवा सम्भव है।

सत्य का भौतिक सत्यापन सम्भव नहीं होता है, अर्थात् शारीरिक ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों द्वारा इसका ज्ञान नहीं हो सकता है। विधिवत् सदाचार, जो कि सत्य का नैतिक पक्ष व व्यवहारिक

दोनों पक्ष हैं, द्वारा निरपेक्ष सत्य को जानने की दिशा में बढ़ा जा सकता है। लेकिन ऐसा सदाचार मन-वचन-कर्म, समग्र तीनों द्वारा होना आवश्यक है, और वो भी तप और त्याग से। निरपेक्ष सत्य जानने के लिये आत्मशुद्धि, मोहविहीनता तथा स्वार्थविहीनता होना आवश्यक है। सत्य स्वयं ही पूर्ण शक्तिमान है, और जब कड़े शब्दों के द्वारा उसकी पुष्टि का प्रयत्न किया जाता है तब वह अपमानित होता है। “*सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्*” सत्य को सदा अहिंसामय होना चाहिए। आलोचना करने की अहिंसक भाषा सीखनी चाहिए। लोगों को कम-से-कम असत्य या कटु वचन नहीं बोलना चाहिये, कान से किसी की निंदा या गंदी बातें नहीं सुनना चाहिये, आँख से अपनी इंद्रियों को विचलित करने वाली कोई चीज नहीं देखना चाहिये, सत्य ही बोलना चाहिये, सत्य ही सुनना चाहिये, आँख से ईश्वर की दया माया समझना चाहिये, और संतजनों के दर्शन करना चाहिये। और जो ऐसा करेगा वही सत्य का दर्शन कर सकेगा।

गांधी की दृष्टि से इस दिशा में (सत्य/ईश्वर प्राप्ति की दिशा में) बढ़ने के कुछ नियम कारगर हैं, जिन्हें नीति नियम कहा जाता है और जिनमें अहिंसा सर्वप्रथम, सबसे महत्वपूर्ण और अवश्य ही पालन करने वाला है और जिसके अकेले की पालना से कुछ अन्य नियमों की पालना स्वतः हो जाती है। ये नीति नियम हैं:— अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अछूतपन मिटाना, शारीरिक मेहनत, नम्रता, स्वदेशी तथा स्वधर्म-समभाव। संक्षेप में इन नियमों को अग्रवर्णित किया जाता है। 1. अहिंसा। अहिंसा का अर्थ है, सर्वव्यापी व सार्वकालिक प्रेम। अहिंसा सबसे पहला धर्म व कर्म है। अहिंसा वो शक्ति है जिसमें आत्माया मनुष्य की उच्चतमप्रकार की शक्ति होती है। अहिंसा आत्मबल की सूचक है। अहिंसा का भावनात्मकरूप प्रेम है। अहिंसा जीव-निर्जीव के साथ व्यवहार में की जानी चाहिये। किसी भी प्रकार की भिन्नताओं के होने पर भी; अर्थात् भौगोलिक हो या ऐतिहासिक हो या मानसिक हो या धार्मिक हो आदि; समस्त जीवों को समान समझते हुए उनके साथ अहिंसा का ही व्यवहार करना चाहिये। अहिंसा उपयोगितावाद को नहीं स्वीकारती। अहिंसा कर्त्व्योन्मुखी होती है, न कि अधिकारोन्मुखी। यह कर्त्वर्य सभी व्यक्तियों का है कि सब अहिंसा का पालन करें। फिर ऐसे व्यक्ति सामाजिक हों या महात्मा या साधू हों या बालक हों या किशोर हों या बुजुर्ग हों। आत्मा, परमात्मा व मानवता की दृष्टि से मनुष्य अहिंसक ही है; पशुता की ही दृष्टि से मनुष्य अहिंसक नहीं है। आत्मबल, आत्मबलिदान, साहस, निर्दोषता, कष्टसहनशीलता, प्रेम, आत्मसंयम आदि गुणों का व्यक्तियों में होना बहुत आवश्यक होता है अहिंसा का पालन करने के लिये। 2. ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य का अर्थ है, ब्रह्म की, यानी सत्य की खोज में आचार-व्यवहार करना। शरीर आसानी से काबू में रह सकता है, लेकिन मन नहीं रहता और इसलिए व्यक्ति को शरीर को तुरंत वश में करके अपने मन को वश में करने की हमेशा कोशिश करते रहना चाहिए। इंद्रियों का संयम करके हम ब्रह्म/ सत्य की खोज में लगे रह सकते हैं। 3. अस्वाद। अस्वाद का अर्थ

यह है कि स्वाद नहीं लेना, स्वाद में रुचि नहीं रखना, स्वाद लेने की इच्छा नहीं रखना, रस-मजा नहीं लेना। खुराक में जितनी मात्रा में नमक की शरीर के लिए जरूरत है उसमें उतनी ही मात्रा में यदि नमक डालें तो ऐसा करने में अस्वाद व्रत टूटता नहीं है। यदि पका हुआ खाना हो और शरीर संधारण/संरक्षण/स्वस्थता के लिए त्यागने लायक न हो, तो उसे ईश्वर की कृपा समझकर बिना मीन-मेख के और बिना मन की बात मानते हुए संतोष के साथ खाना चाहिए— किंतु उतना जितना कि शरीर के लिए जरूरी हो। 4. अस्तेय। अस्तेय का अर्थ है, चोरी न करना। जो व्यक्ति चोरी करता है, वह सत्य को नहीं जानता है और प्रेम धर्म का पालन नहीं करता है। इजाजत के बिना किसी की कोई वस्तु लेना भी चोरी है। ऐसा मान कर कि अमुक वस्तु किसी की भी नहीं है, उस वस्तु को लेना भी चोरी है। कोई वस्तु की हमें जरूरत नहीं है फिर भी उस वस्तु का लेना चोरी है; भले ही वह वस्तु जिसके कब्जे में हो उसकी इजाजत लेकर ही ली गई। हम विचार करके अपनी बहुत सी जरूरतें कम कर सकते हैं। ऐसा अस्तेय व्रत पालन करने वाला करता है। मन से हम किसी की चीज पाने की इच्छा करें या उस पर बुरी नजर डाले, तो यह भी चोरी ही है। अच्छी चीज देखकर ललचाना भी मन की चोरी है। आज जो वस्तु सिर्फ ख्याल में ही है उसे भविष्य में पाने के लिए प्रयत्न करना अस्तेय व्रत का तोड़ना है। विचार की चोरी भी होती है। 5. अपरिग्रह। अर्थात् इकट्ठा न करना। यदि सभी लोग सिर्फ अपनी-अपनी जरूरत की चीजों का संग्रह करें, तो किसी को किसी भी वस्तु की कमी कभी भी महसूस होगी ही नहीं और सब को संतोष भी होगा। मानव शरीर भी परिग्रह है, यदि हम सत्य/आत्मा की नजर से सोचें। भोग की इच्छा से हमने शरीर का चोला पहन रखा है और टिकाए रखा है। यदि हममें यह भोग की इच्छा बिल्कुल कम हो जाए, तो हमारे शरीर की जरूरतें नहीं रहेंगी। शरीर का प्रयोग सिर्फ दूसरों की सेवा करने के लिए ही करना सीखते हैं जब तक की शरीर है (इस हद तक कि सेवा ही शरीर की असली खुराक हो)। शरीर खाते, पीते, लेटे, बैठे, जागते, सोते सिर्फ दूसरों की सेवा करने के लिए है — ऐसा करने से पैदा होने वाला सुख ही सच्चा-सुख है। 6. अभय। अर्थात्, बाहरी भयों/डरों से ग्रसित न होना। अन्दर की चीजों में काम, क्रोध आदि दोषों का डर सच्चा डर है। यदि हम इन डरों को जीत लें, तो बाहरी अनेक डर अपने आप मिट जाएंगे। बहुत से डर शरीर को लेकर हैं। अगर शरीर की ममता छूट जाए तो आसानी से डरविहीन स्थिति प्राप्त हो जाए। डरों को दूर रखने का सरल रास्ता है कि हम स्वामी बन कर नहीं रहने के बजाय सेवक बन कर रहें, कुछ नहीं हो कर रहें। 7. अछूतपन मिटाना। अछूतपन मिटाने का अर्थ है सभी जीवमात्र के लिए पूरा प्रेम। 8. शारीरिक मेहनत। उद्यम के बिना भोजन नहीं करने का संकल्प कर ले। श्रम करना प्रभु की आराधना करना है। जो श्रम किए बिना खाता है, वह पाप खाता है। श्रम किए बिना खाने वाला सचमुच चोर है। केवल संस्कार के कारण कोई उन्नति नहीं कर सकता। पुरुषार्थ के बिना उन्नति असंभव है। 9. नम्रता। नम्रता का अर्थ है, 'मैं' का समूल नष्ट होना। तीव्रतम पुरुषार्थ,

सख्त-से-सख्त मेहनत, दूसरे सभी लोगों की सेवा करने के लिए होना चाहिए। हमारी सच्ची नम्रता हमसे मांग करती है कि हम समस्त प्राणिमात्र की सेवा करने के लिए सब कुछ न्यौछावर कर दें।¹⁰ स्वदेशी। स्वदेशी का गूढ़ अर्थ है कि समस्त स्थूल, यानी सांसारिक संबंधों से छुटकारा होना। ऐसी दशा में व्यक्ति के लिए शरीर भी परदेशी होता है और दूसरे सभी प्राणिमात्र के साथ एकता रखते हुए इस स्वदेशीधर्म को जानने वाला और पालने वाला व्यक्ति शरीर को भी छोड़ देता है।¹¹ सर्वधर्म समभाव। हमने पूर्ण सत्य को देखा नहीं है, इसलिए ही सत्य का आग्रह करते हैं। यदि पूर्ण सत्य को देखा होता तो हम परमेश्वर हो जाते। यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारी कल्पना का / बनाया गया धर्म भी अपूर्ण ही है। यदि लोगों द्वारा माने हुए और बनाए हुए सभी धर्मों को हम अपूर्ण माने तो फिर अच्छे-बुरे और ऊँचा-नीचे का भेदभाव ही नहीं रहता है। सब धर्म सच्चे हैं, किंतु सभी धर्म अपूर्ण हैं इसलिए उनमें दोष हो सकते हैं। सभी धर्मों के प्रति समभाव होने पर भी हम उनमें (सब धर्मों में) दोष देख सकते हैं, अपने धर्म में भी। दूसरों की गलती की वजह से भी हमें उन्हें दुःख नहीं देना चाहिए; बल्कि खुद ही दुःख उठाना चाहिए। जो व्यक्ति इस सुनहरे नियम का पालन करता है, वह व्यक्ति सभी संकटों को पार कर जाता है। उच्च-से-उच्च विचार, अर्थात्, विश्वास और उसका उच्च-से-उच्च आचार। यह धर्म का अर्थ है: 'यतो धर्मस्ततो जयः'। तात्पर्य यह है कि समझदार मनुष्य, दुनिया भर की फिक्र करने के बदले, पहले स्वयं धर्म-पालन शुरू कर दे और फिर तो 'यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे' के न्याय के अनुसार एक के आरंभ का असर दूसरे पर अवश्य ही पड़ेगा। अगर सब अपनी-अपनी चिंता करने लगें, तो किसी को किसी की चिंता करने की जरूरत ही नहीं रह जायेगी।

नीति के नियमों की अनुपालना करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने अन्दर इन गुणों को भी विकसित करने का नियम है:- 1. मर्यादा, 2. संयम, व 3. चरित्रबल और साथ-ही-साथ विश्वासबल, धर्म व मत के अर्थ अच्छी तरह से समझ कर इनको अपने अन्दर समा लेना चाहिये।

गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानने वाला प्रत्येक व्यक्ति ये कर्तव्य निभाता है:-

1. अपने उत्साह पर नियंत्रण रखता है।
2. स्वयं से हो सकने वाले अनीतिपूर्ण व गलत कामों को न होने देने पर नियंत्रण रखता है।
3. इंद्रियों के विषयों को भोगने की बिल्कुल इच्छा नहीं रखता है।
4. अपने अंदर दिव्य अनुभूति प्राप्त कर अपने मन, बुद्धि, चित्त, व शरीर पर नियंत्रण रखता है और प्रकृति के अनुसार स्वयं को चलने देता है।
5. हमेशा नीति को मानने व सत्य की ओर चलता है, और इस वास्ते नीति नियमों का हर क्षण पालन करता रहता है।

6. स्वयं को मनुष्य सहित समस्त जीव-निर्जीव की निःस्वार्थ सेवा के कर्तव्य में लगाये रहता है, और मनुष्यों का उत्थान करता रहता है।

7. व्यापारी, नौकर, प्रोफेशनल, व मजदूर आदि कोई भी काम करने वाला हो, किंतु नीति व नीति नियमों की पालना करता है।

8. यह मानता है कि संसार के साथ व्यवहार करते हुए उसका सत्य व नीति नियमों के पालन के मार्ग से ध्यान हटना स्वाभाविक है, और इसलिए वह व्यक्ति निरंतर अपनी परीक्षा स्वयं लेता रहता है कि वह सत्य व नीति नियमों की पालना करना तो नहीं भूल रहा है।

9. हमेशा सद्व्यवहार, सदाचार, सद्विचार, संयम तथा नीति व नीति नियमों में अटूट श्रद्धा रखते हुए अपने चरित्र को उत्तम-से-उत्तम बनाने में लगा रहता है।

10. संसार में दिखने वाले लोभ-लालच के चक्कर व आकर्षण में न पड़कर सिर्फ नीति और नीति नियमों पर श्रद्धा रखता है तथा उनकी अनुपालना करना अपना फर्ज समझता रहता है।

11. सदा सादगीपूर्ण व पवित्र जीवन जीता है।

12. किसी के प्रति दुश्मनी की भावना नहीं रखता है।

गांधी की दृष्टि वाली नीति को मानने वाला तथा नीति नियमों का पालन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति की निम्न खूबियाँ होती हैं:- उसके समस्त प्रकार के कार्यों के करने का ध्येय मानव सेवा करना होता है। सृष्टिकर्ता, सर्वव्यापी, व विश्वव्यापी सत्य/ईश्वर की सेवा करता है। सर्वव्यापी व सार्वकालिक प्रेम का पालक होता है। उपयोगितावादी नहीं होता है, कर्तव्योन्मुखी होता है, अधिकारोन्मुखी नहीं होता है। आत्मबली, आत्मबलिदान करने वाला, साहसी, निर्दोषभावनायुक्त, कष्टसहनशील, सबसे प्रेम करने वाला, और संयमी होता है। मन को वश में रखने वाला होता है व इंद्रियों पर संयम रखता है। मन-वचन-कर्म से किसी के लिये अहितकारी व कष्टदायी कार्य नहीं करता है। किसी से ईर्ष्या, द्वेष व शत्रुता नहीं रखता है। उतना ही खाता-पीता है जितना कि शरीर के लिए जरूरी हो। चोरी नहीं करता है। भोग की इच्छा से अपने शरीर का उपयोग नहीं करता है, व इच्छायें बिल्कुल कम होती हैं। शरीर का प्रयोग खाते, पीते, लेटे, बैठे, जागते, सोते सिर्फ दूसरों की सेवा करने के लिए करता है। काम, क्रोध आदि दोषों से मुक्त होता है। सभी जीवमात्र से पूरा प्रेम करता है। उद्यम के बिना भोजन नहीं करता है, व पुरुषार्थ में मग्न रहता है। 'मैं' पन की बिल्कुल भावना नहीं होती है। सबके धर्मों का आदर करते हुए अपने धर्म का पालन करता है। सुखी, संतोषी व शांत स्वभाव का, उदार, दयावान व निस्वार्थी होता है।

नैतिक नियम भी सत्य हैं। नैतिक नियम कभी नष्ट नहीं होते। सांसारिक नियमों से बहुत भिन्न। नैतिक नियम का जनक हमारा हृदय है, जबकि सांसारिक नियम मन-बुद्धि से बनते हैं और

परिवर्तनीय होते हैं। नैतिक नियम गूढ़ होते हैं। गूढ़ नियम को समझने में मनुष्य भूल भी कर सकता है। स्वार्थ का विचार त्याग करने पर ही नीतियुक्त कार्य हो सकता है। नैतिक नियम का आधार न तो उसकी इच्छाएं होती हैं, न मोह होता है, न ममता होती है और न मन की चंचलता होती है। दुनिया भर की फिक्र करने के बदले, पहले व्यक्ति को नीति नियमों का पालन शुरू कर देना चाहिये। 'यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे'। नीतियुक्त कर्म (नैतिक नियमयुक्त) करना सबका कर्तव्य है, और नीतियुक्त कर्म (नैतिक नियमयुक्त) करना सबका स्वभाव होना चाहिये। नीति पालन बातोंसे नहीं होती, नीतिमार्ग पर लगातार तब तक चलने से होता है जबतक पूर्ण मनुष्यता नहीं आये। नीति पालन में व्यक्ति को पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिये। क्योंकि श्रद्धा से अंतर्ज्ञान व आत्मिक-ज्ञान की वृद्धि होती है, श्रद्धा भक्ति से व सत्संग से प्राप्त होती है। नीतियुक्त कर्म (नैतिक नियमयुक्त) मनुष्य को अपनी इच्छा से करना चाहिये। नीतियुक्त कर्म सोच-विचार कर किये जाते हैं। नीतियुक्त कर्म (नैतिक नियमयुक्त) वो होता है जिसके प्रयोजन में साध्य और साधन दोनों ही शुभ हों। नीतियुक्त कर्म (नैतिक नियमयुक्त) की पालना से विचार अच्छे होते हैं। नीतियुक्त (नैतिक नियमयुक्त) कार्य करने के लिये प्रत्येक मनुष्य बाध्य होता है। सबका अंतर्दामी ईश्वर है मानते हुये प्रत्येक मनुष्य को देह, दिमाग और मन आदि उसमें निहित अदृश्य तत्वों, तीनों को ही, समझना व उसके अनुसार आचरण भी करना नीतियुक्त (नैतिक नियमयुक्त) कार्य करना है। जो व्यक्ति नहीं मानता, उसका नाश होता है। रीति-रिवाज या पारम्परिक कर्मों को नीतियुक्त (नैतिक नियमयुक्त) कार्य नहीं समझना चाहिये। छोटे-छोटे नियमों के पालन करने के अभ्यास से नीतियुक्त कर्म करना मनुष्य सीखता है। नीतियुक्त (नैतिक नियमयुक्त) आचरण करने से सुख, स्वतंत्रता और शांति मिलते हैं। नीतियुक्त (नैतिक नियमयुक्त) आचरण करने वाला उदार, दयावान और निःस्वार्थी बनने की कोशिश करता रहता है और दुर्बल, दीन और दुखी के प्रति सहानुभूति रखता है।

3.1.3 शिक्षा

गांधी की दृष्टि में नीति का आशय और नीतिमान मानव के कर्म व व्यवहार पर ऊपर लिखे गये वर्णन व विवेचन के पश्चात् अब गांधी की दृष्टि में शिक्षा का आशय नीचे व्यक्त किया जाता है। शिक्षा क्या अक्षर-ज्ञान है? “शिक्षा का साधारण अर्थ अक्षर-ज्ञान ही होता है।” (गांधी, 1949) किन्तु प्रावधान है कि (क) “उस ज्ञान की हमें मूर्ति की तरह पूजा नहीं करनी चाहिये। वह हमारी कामधेनु नहीं है। वह अपनी जगह पर शोभा दे सकता है। और वह जगह यह है: जब मैंने और आपने अपनी इन्द्रियों को बस में कर लिया हो, जब हमने नीति की नींव मजबूत बना ली हो, तब अगर हमें अक्षर-ज्ञान पाने की इच्छा हो, तो उसे पाकर हम उसका अच्छा उपयोग कर सकते हैं। वह शिक्षा आभूषण के रूप में अच्छी लग सकती है।” (गांधी, 1949), (ख) “वह

शिक्षा आभूषण के रूप में अच्छी लग सकती है। किन्तु अक्षर-ज्ञान का अगर आभूषण के तौर पर ही उपयोग हो, तो ऐसी शिक्षा को लाजिमी करने की हमें जरूरत नहीं।” (गांधी, 1949), (ग) अक्षर-ज्ञान का सही उपयोग हो और उससे फायदा हो क्योंकि “बहुत से लोग उसका (अक्षरज्ञान का) बुरा उपयोग करते हैं, यह तो हम देखते ही हैं। उसका अच्छा उपयोग मुकाबिले में कम ही लोग करते हैं। यह बात अगर ठीक है तो इससे यह साबित होता है कि अक्षर-ज्ञान से दुनिया को फायदे के बदले नुकसान ही हुआ है।” (गांधी, 1949)

गांधी के उपरोक्त शब्दों पर ध्यान देने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है यह जानने कि क्या है उपरोक्त अक्षर-ज्ञान की वास्तविक भूमिका क्या है? उपरोक्त अक्षर-ज्ञान का सही उपयोग क्या है? उपरोक्त अक्षर-ज्ञान का उद्देश्य क्या है?

गांधी कहते हैं कि अक्षर-ज्ञान का अच्छा उपयोग तब कर सकते हैं, “जब मैंने और आपने अपनी इन्द्रियों को बस में कर लिया हो, जब हमने नीति की नींव मजबूत बना ली हो... लोगों को लिखना, पढ़ना और हिसाब करना सिखाना बुनियादी या प्राथमिक- प्राथमरी शिक्षा कहलाती है।... एक किसान ईमानदारी से खुद खेती करके रोटी कमाता है। उसे मामूली तौर पर दुनियावी ज्ञान है। अपने माँ-बाप के साथ कैसे बरतना, अपनी स्त्री के साथ कैसे बरतना, बच्चों से कैसे पेश आना, जिस देहात में वह बसा हुआ है वहाँ उसकी चालढाल कैसी होनी चाहिये, इन सबका उसे काफी ज्ञान है। वह नीति के नियम समझता है और उनका पालन करता है। लेकिन वह अपने दस्तखत करना नहीं जानता। इस आदमीको आप अक्षर-ज्ञान देकर क्या करना चाहते हैं? उसके सुख में आप कौन सी बढ़ती करेंगे? क्या उसकी झोंपड़ी या उसकी हालत के बारे में आप उसके मन में असंतोष पैदा करना चाहते हैं?” (गांधी, 1949)

“शिक्षा से मेरा मतलब है बच्चे या मनुष्य की समस्त शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सर्वोत्तम विकास है।” (गांधी, 1937 सितम्बर 11; हरिजन पत्रिका)

“सच्ची शिक्षा वह है जिसके द्वारा बालकों के शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास को बल मिले।” (गांधी, 1937 सितम्बर 11; हरिजन पत्रिका)

“सच्ची शिक्षा वही है जो बालक की आत्मिक, बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमताओं को जाग्रत कर, उसका सर्वांगीण विकास कर सके।” (गांधी, 1937 सितम्बर 11; हरिजन पत्रिका)

“हमारी शिक्षा को क्रान्तिकारी होना चाहिये। दिमाग को हाथों के द्वारा प्रशिक्षित किया जाना चाहिये। हम यह क्यों सोचते हैं कि दिमाग ही सब कुछ है और हाथ और पैर कुछ भी नहीं।” (गांधी, 1937; हरिजन, पृ.65)

“मस्तिष्क की भाँति हमारे हाथों में भी तो काया-कौशल का निवास है। लम्बे अरसे से निष्क्रिय बुद्धि को ईश्वर समझकर हम उसकी पूजा करते आये हैं। उसने हम पर बड़ा जुल्म किया है। वह हमारी शासिका और स्वामिनी रही है। हमारी नवीन समाज-रचना में बुद्धि हमारे अनेक

सेवकों में से एक होगी और जो-जो बातें हमारे जीवन को सरल और सादा बनाने वाली हों, प्राकृतिक सुंदरताओं की ओर हमें खींचकर ले जायें, अपने हाथ से काम करके उसके सहारे अपनी आजीविका कमाने में सहायक हों। ऐसे हर तरह के काम को चाहे वह कलाकार का हो, शिल्पकार का हो या किसान का हो, हमें गौरवान्तिक करना सीखना चाहिए।” (गांधी, 1937 अक्टूबर 2; हरिजन सेवक)

“यदि बचपन से बालकों के हृदय की कृतियों को योग्य दिशा मिले, उन्हें खेती, चरखा आदि उपयोगी कामों में लगाया जाय और जिस उद्योग से उनका शरीर कसे, .. तो बुद्धि अपने आप बढ़ेगी और उसकी जाँच भी रोज होती रहेगी। ऐसा करते हुए गणितशास्त्र और दूसरे शास्त्रों के जितने ज्ञान की आवश्यकता है, वह दिया जाता रहे और विनोद के लिये साहित्य आदि विषय की जानकारी भी करायी जाती रहे, तो तीनों चीजों का संतुलन कायम हो जाये और शरीर का विकास हुए बिना न रहे।” (गांधी, 1937 अप्रैल 11; हरिजन बन्धु)

गांधी ने महान सुधारक रूसीके कथन का उदाहरण देते हुए कहा है कि चूँकि बचपन में बुद्धि सुषुप्त अवस्था में होती है इसलिए उनको बाल्यकाल में अच्छी आदतों को सिखाना चाहिये। (गांधी, 1926 जुलाई 29)

गांधी बच्चों को शारीरिक-श्रम आधारित पहले के विद्वानों की बातें बताकर उन पर अमल कराने के पक्ष में थे किन्तु सावधानी के साथ। (गांधी, 1926 जुलाई 29) जब कि शिक्षा का मतलब है कि पहले बच्चे को इस हद तक किसी विद्वान व उसके कथन को अच्छी तरह से बता दें कि वे बच्चे भी उसे खूब अच्छी तरह उसे समझजायें और तभी किसी विद्वान के नाम पर उसे बताने और तदनुसार कार्य करने की शिक्षा देनी चाहिये। अक्सर करके तो यह विधि भ्रमात्मक हुआ करती है। (गांधी, 1926 जुलाई 29)। (सुजाता, 2012) ने कहा है कि यदि व्यक्ति को अपना विकास करना है तो उसमें दूसरों व दूसरी बातों को जाँचना-परखना आना चाहिए और जिज्ञासु स्वभाव का होना चाहिए। हर एक व्यक्ति अपनी रुचि और अरुचि रखता है। और जबकि कोई व्यक्ति ‘वीर’ में श्रद्धा रखने लगे तब वह अपने विवेक को विदा कर देता है और उसका यह खिलवाड़ बना लेता है। इसी को अंध-वीर-उपासना कहते हैं। वीर-उपासना एक उत्तम गुण है। कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति बिना आदर्श के उन्नति नहीं कर सकता है। उसके लिए वीर प्रकाश दायक और उत्साहवर्धक हुआ करता है। किंतु यह कदापि नहीं होना चाहिए कि वह विवेक को नष्ट कर दे और हमारी बुद्धि को पंगु बना दे। उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट आत्माओं के कथनों तथा कार्यों तक को हमें अच्छी तरह कसौटी पर कस लेना चाहिए, क्योंकि वह वीर आखिर मनुष्य और नाशवान हैं। और वो वीर भीठीक उसी तरह गलती कर सकते हैं, जैसे कि हममें से अधम-से-अधम व्यक्ति कर सकता है। उनकी उत्तमता तो उनके निर्णय तथा काम करने की उनकी शक्ति में है। ऐसे व्यक्ति राष्ट्र को नाश कर देते हैं, जो कि अंध-वीर-उपासना करने की आदत में हैं और बिना सोचे समझे बिना शंका तक किए सब बातों को मान लेते हैं।

इसलिए वीर-उपासना के प्रति अंधभक्ति विवेक-अंधभक्ति से ज्यादा खराब है। लेकिन वास्तविकता यह है कि विवेक की अंधभक्ति कोई चीज है ही नहीं। अधिकांश रूप से विवेक, व्यवहार करने का एकमात्र पथ प्रदर्शक है। यह आवश्यक है कि उसके मंत्री आज्ञाकारी एवं शुद्ध हों। इंद्रियों को कठोर संयम द्वारा वश में कर लेना चाहिए, ताकि विवेक का आज्ञापालन खुशी से किया करें, न कि यह कि उलटे विवेक को उनका निस्सहाय गुलाम होना पड़े। (गांधी, 1926 जुलाई 29)

माना कि बच्चों की विवेकशक्ति सुषुप्तावस्था में होती है, किंतु एक सचेत शिक्षक उसे प्रेम से जागृत कर सकता है तथा उसे शिक्षित बना सकता है। सचेत शिक्षक बच्चों में संयम की आदत डाल सकता है, ताकि उनकी बुद्धि उनकी इंद्रियों के वशीभूत न होकर बचपन से ही उनकी पथ-प्रदर्शक बन जाएं। बच्चों से उपदेश के अनुसार चलने को कहना कोई संयम नहीं है क्योंकि उससे किसी आदत का बीजारोपण नहीं होता है। वो बच्चे जिन्हें किसी काम को बिना सोचे समझे ही करना सिखाया जाता है, वो आलसी हो जाते हैं। यदि शुरू से ही जो कुछ उनको बताया जाए, अच्छी तरह समझाया जाए और उसके बाद उनके संकल्प में प्राबल्य लाने के लिये व विवेक की पुष्टि करने के लिये उनके सामने उन पुरुषों के उदाहरण पेश किए जाएं जिन्होंने महान काम किए हैं, तो संभव है कि वो बच्चे शक्तिशाली और चरित्रवान नागरिक बनें और कठिन अवसरों पर दृढ़ रहकर अपना भविष्य उज्ज्वल करें। (गांधी, 1926 जुलाई 29)

(सुजाता, 2012)के अनुसार आत्मज्ञान/आत्मबोध का होना सबसे उत्तम ज्ञान होता है। रस्किन का स्पष्ट मत है कि जो शिक्षा सच्ची है, जो आत्मा की पहचान कराने वाली है, वही शिक्षा है और वही ग्रहण करनी चाहिए। इसी जगत में मनुष्य मात्र को तीन पदार्थों और तीन गुणों की आवश्यकता है। जो इन्हें पनपाना नहीं जानता, वह जीने का मंत्र ही नहीं जानता। अतः यह छः चीजें ही शिक्षा की नींवरूप होनी चाहिए। इसलिए मनुष्यमात्र को बचपन से चाहे वह लड़का हो या लड़की यह जान लेना ही चाहिए के साफ हवा, साफ पानी, और साफ मिट्टी किसे कहना चाहिए, उन्हें किस तरह रखना होता है और उनका क्या उपयोग है। वैसे ही तीन गुणों में उसने गुणज्ञता, आशा और प्रेम को गिनाया है। (गांधी, 1932 मार्च 28)

जिसको सत्य आदि गुणों की कद्र नहीं है, और जो सुंदर वस्तु को पहचान नहीं सकता, वह अपने घमंड में भटकता है और आत्मानंद नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार जिसमें आशावाद नहीं है, अर्थात् जो ईश्वरीय न्याय के विषय में शंकित रहता है, उसका हृदय कभी प्रफुल्लित नहीं रह सकता, और जिसमें प्रेम नहीं, यानी अहिंसा नहीं, जो जीव मात्र को अपना कुटुम्बी नहीं मान सकता, वह जीने का मंत्र कभी प्राप्त नहीं कर सकता। (गांधी, 1932 मार्च 28)

सच्चा विद्याभ्यास वह है जिसके द्वारा हम आत्मा को, अपने आप को, ईश्वर को, तथा सत्य को पहचानें। इस पहचान के लिए किसी को साहित्यज्ञान की आवश्यकता हो सकती है, किसी को भौतिक-शास्त्र की, और किसी को कला की, किन्तु विद्या मात्र का उद्देश्य आत्म दर्शन होना

चाहिए। आश्रम में यह है। इसी की दृष्टि से हम अनेक उद्योग चला रहे हैं। यह सारे उद्योग मेरे अर्थ में, शुद्ध विद्या-अभ्यास हैं। आत्म-दर्शन के उद्देश्य के बिना भी यही धंधे चल सकते हैं। इस रीति से चलें तो वह आजीविका के या दूसरे साधन हो सकते हैं, किन्तु विद्या-अभ्यास के पीछे समझ, कर्तव्य-परायणता, तथा सेवाभाव विद्यमान होता है। जहाँ समझ हो वहाँ बुद्धि विकास होता ही है। छोटे से छोटे काम करते हुए शिव-संकल्प होना चाहिए। उसका कारण उसका शास्त्र समझने का प्रयत्न होना चाहिए। शास्त्र हर काम का होता है। खाना पकाने का, सफाई का, बढ़ई के काम का, कताई का। जो एक उद्योग विद्यार्थी की दृष्टि से चलाता है, वह उसका शास्त्र जानता है या रचता है। (गांधी, 1932 जुलाई 10)

शिक्षा के लिए कोई खास समय ही हो तो ऐसी बात नहीं है, बल्कि सारा समय शिक्षण-काल है। हर व्यक्ति, जो आत्मदर्शन-सत्य-दर्शन के भाव से आश्रम में बसता है, वह शिक्षक है और विद्यार्थी भी है। जिस चीज में वह निपुण है, उसके विषय में वह शिक्षक है, तथा जो उसको सीखना है, उसके विषय में वह विद्यार्थी है। जिस विषय का हमें अपने पड़ोसी की अपेक्षा अधिक ज्ञान हो, वह ज्ञान पड़ोसी को बिना किसी संकोच के देते ही रहें और जिस विषय में पड़ोसी को अधिक ज्ञान हो, उसमें उससे बिना संकोच के लेते रहें। हम ऐसा किया करें तो हमें शिक्षकों का टोटा न पड़े और शिक्षण सहज और स्वाभाविक हो जाए। सबसे बड़ी शिक्षा चारित्र-शिक्षण है। ज्यों-ज्यों हम यम-नियमों के पालन में बढ़ते जाएं त्यों-त्यों हमारी विद्या-सत्य-दर्शन की शक्ति बढ़ती ही जाएगी। (गांधी, 1932 जुलाई 10)

(डेविड, 2014) ने ज्ञान प्राप्ति के शिक्षा के दार्शनिक तरीके को उचित पाया है। इस तरह से विद्यार्थी व शिक्षक के बीच ज्ञान देना-प्राप्ति अच्छी तरह होता है।

"टहलना भी व्यायामतो है ही, इसमें मेरा शरीर अपेक्षाकृत सुगठित बना।" (गांधी, 1957)

"बाद में मैं समझा कि विद्याभ्यास में व्यायाम का, अर्थात् शारीरिक शिक्षा का, मानसिक शिक्षा के समान ही स्थान होना चाहिये।" (गांधी, 1957)

बौद्धिक विकास

व्यक्तित्व विकास में बौद्धिक विकास का प्रथम स्थान है। (शिवदयाल, 2009)

मानव के समान बुद्धि तन्त्र अन्य प्राणियों को प्रकृति से नहीं मिली। अन्य प्राणी तत्कालिक और आवेग के जरिये से कार्य करते हैं, किन्तु मानव प्रायः अपनी बुद्धि से काम करते हैं। (शिवदयाल, 2009)

विद्वता ही बौद्धिक विकास नहीं है। कोई व्यक्ति किसी विषय में विद्वान हो, तो उसका अर्थ यह है कि उसने उस विषय को भलाभांति समझा, पढ़ा और याद किया। (शिवदयाल, 2009)

बौद्धिक विकास में 1. बुद्धि की विश्लेषण शक्ति, 2. विवेक शक्ति, और 3. स्मरण शक्ति निहित हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बौद्धिक विकास में व्यक्तियों में निम्न चीजें विकसित होती हैं:-

प्रत्येक बात का विश्लेषण स्वतः होने का अभ्यास हो, तत्व को तुरंत ग्रहण करने की क्षमता हो, तुरंत निर्णय और निश्चयात्मक निर्णय करने की मनीषा हो, तथा विचारों में और वाणी में स्पष्टता हो। (शिवदयाल, 2009)

सुविधा की दृष्टि से बौद्धिक विकास पर विवेचन दो श्रेणियों में व्यक्त किया जाता है:—1. बुद्धि—परिवर्धन, और 2. विद्या अर्थात् विकसित बुद्धि का विद्या अध्ययन में प्रयोग। (शिवदयाल, 2009)

बुद्धि—परिवर्धन

पहली बात तो यह समझने की है कि विद्वता और बुद्धि—परिवर्धन एक नहीं हैं। कोई व्यक्ति किसी विषय में विद्वान हो तो उसका अर्थ यह है कि उसने उस विषय को भलीभाँति समझा, पढ़ा और याद किया। (शिवदयाल, 2009)

1. जबकि बुद्धि—परिवर्धन में निम्न निहित होते हैं:— बुद्धि विश्लेषणात्मक हो। अर्थात्, यदि कोई समस्या हो, तो बुद्धि तुरंत विश्लेषण करके उसको समझ ले और दूसरे को समझा सके, समस्या का समाधान कहाँ मिलेगा, और उसकी शीघ्रता से खोज कर लेना। (शिवदयाल, 2009)
2. बुद्धि शीघ्र निर्णय करे। अर्थात्, क्या उचित है, क्या अनुचित है, क्या अच्छा है, और क्या उससे अच्छा है— यह जानना। (शिवदयाल, 2009)
3. तुलनात्मक विश्लेषण करके निश्चित निर्णय पर पहुँचना। बुद्धि को निर्णय के अनुसार प्रयोग करने के लिए समुचित प्रेरणाएं व विचार उत्पन्न हो और विचारों में स्पष्टता हो तथा विचारों की अभिव्यक्ति में स्पष्टता हो। (शिवदयाल, 2009)

सारांशतः, बुद्धि—परिवर्धन में निम्न तत्व निहित होते हैं:—1. विश्लेषणात्मक बुद्धि (एनालिटिकल माइंड), 2. समझने में तत्परता (क्विक ग्रेसप), 3. सही निर्णय (करेक्ट डिजीजन), 4. निश्चयात्मकता (डिटरमिनेशन), 5. विचारों में स्पष्टता (क्लैरिटी ऑफ थॉट), 6. अभिव्यक्ति में स्पष्टता (क्लैरिटी ऑफ एक्सप्रेसशन), 7. विवेक, अर्थात् क्षीर—नीर को पृथक करना (डिस्क्रिमिनेशन), तथा 8. तीव्र बुद्धि/कुशाग्रता (शार्प मेमोरी)। (शिवदयाल, 2009)

बुद्धि को इन सब गुणों से संपन्न करना वास्तविकरूप में बुद्धि—परिवर्धन करना है। प्रत्येक गुण के लिए अभ्यास आवश्यक है। दिन—प्रतिदिन इन गुणों का अभ्यास करने से बुद्धि इन गुणों से संपन्न होती है।

विद्या(अर्थात्, विकसित बुद्धि का विद्या अध्ययन में प्रयोग)

विद्या मनुष्य का गुप्त धन है, विद्या यश देने वाली है, हर परिस्थिति में सहायता करती है, तथा सर्वश्रेष्ठ गुरु है। (शिवदयाल, 2009)

दूसरों को पढ़ाने से स्वयं की विद्या बढ़ती है, जिस प्रकार धन बाँटने से बढ़ता है। विद्यारूपी—धन सब धनों में श्रेष्ठ है। (शिवदयाल, 2009)

विद्या अध्ययन विद्यार्थी का सबसे पहला और सबसे उत्तम धर्म है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये विद्यार्थी को अध्ययन करके प्रत्येक कार्य में दक्षता प्राप्त करना चाहिये और दक्षता प्राप्त होती है:— विद्या अध्ययन में नियमितता होने पर, समय—निष्ठा होने पर, समझ—समझ कर लगन से पाठ याद करने पर, स्मरण शक्ति को बढ़ाते जाने पर, तथा निरन्तर अभ्यास करने पर। दक्षता का स्वभावही विद्यार्थी अपना उद्देश्य बना लेना चाहिये। शिक्षा ग्रहणकाल में एक बार दक्षता का स्वभाव बन जाने पर जीवन भर प्रत्येक कार्य में निपुणता हासिल होती है और प्रत्येक क्षेत्र में दक्षता होती है। विद्यार्थी अपने में दक्षता का स्वभाव का ऐसा निर्माण करें कि प्रत्येक कार्य में, चाहे छोटा हो या बड़ा, निपुणता हो, कुशलता हो, तथा सुंदरता हो। जो विद्यार्थी जिस विषय में दक्ष नहीं होता, उस विषय के प्रति उसमें सदा हीन—भावना बनी रहती है, जो जीवन का अभिशाप है। जीवन भर योग्यता बढ़ाते रहना मनुष्य का कर्तव्य है। (शिवदयाल, 2009)

स्वामी विवेकानंद ने कहा, जबतक जियो, सीखो। दक्षता प्राप्त करने का यह मन्त्र अपना लेना चाहिये:—सुनकर समझो, पढ़कर समझो, चिंतन से समझो, अनुभव से समझो, कैसे भी समझो किंतु पूरी तरह समझो। आता है तो करके देखो व दिखाओ, नहीं तो सीखो। (शिवदयाल, 2009) (ठक्कर, 2015) ने अनिवार्य शिक्षा हेतु समग्र शिक्षा प्रणाली बनाने तथा इस प्रणाली को क्रान्तिकारी ढंग से लागू करने हेतु सरकारी नेतृत्व की जरूरत विषय पर शोध की है। शोधार्थी ने पाया है कि हालाँकि भारत में अनेक स्तरों पर, सरकार सहित, एक लम्बे समय से, शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन किये जाने की गुहार को देखते हुए, अनेकों प्रयत्न किये गये हैं किन्तु परिणाम स्वरूप मिला क्या:— व्यक्ति की व्यक्ति से, प्रकृति से तथा परिस्थितिकी से बेगानापन / दुश्मनी। शोधार्थी ने पाया कि पूर्वोक्त दुर्दशा इसलिये है क्योंकि इस दुर्दशा के मूलभूत कारणों / जड़ को {अर्थात् मानव, मानवता व नीति जिसे ही वास्तव में शिक्षा कहते हैं} नहीं पहचाना गया है और इस कारण शिक्षा प्रणाली में सुधार के लिये अब तक किये गये सारे प्रयत्न {दिमाग, समय व धनरूप में खर्च} विफल रहे हैं। शोधार्थी ने इस दुर्दशा की स्थिति से उबरने के लिये सुझाव दिया है कि शिक्षा की सही दशा व दिशा हेतु एक समग्र अभियान अपना कर एक बिल्कुल नई समग्र—शिक्षा—प्रणाली, जीरो (शून्य) लेवल/स्तर से कार्यवाही आरम्भ कर स्थापित करने की आवश्यकता है। साथ ही यह कार्य उस/उन व्यक्ति(यों), विशेषतः सरकार के स्तर पर, द्वारा किया जाये जो अभिनव स्वभाव के हों, साहसी हों, स्वार्थरहित स्वभाव वाले हों, ईमानदारी से कार्य करने वाले हों, उच्च स्तर की नेतृत्व क्षमता व भावना रखने वाले हों,

परिणाम अभिन्यस्त साहसिक कदम उठाने की शक्ति-क्षमता-पूर्ण हों, तथाक्रान्तिकारी निर्णय लेने और उनको सम्पन्न करने की शक्ति-क्षमता-पूर्ण हों।

(पासी. व अन्य, 2012) ने शैक्षिक शोध परिप्रेक्ष्य में बदलाव हेतु डॉयलॉग (संवाद) व रिडॉयलॉग (पुनर्संवाद)विषयक शोध कार्य किया है। शोधकर्ताओं ने अवगत कराया है कि मिलेनियम डिवलेपमेन्ट गोल्स का एक गोल (उद्देश्य) यह है कि वर्ष 2015 तक सार्वभौमिक प्राईमरी एजुकेशन के उद्देश्य को प्राप्त करना है क्योंकि बेसिक एजुकेशन/ प्रायमरी एजुकेशन एक अपरिहार्य आधारशिला है सभी क्षेत्रों में संधारण व विकास को बनाये रखने हेतु- चाहें वो क्षेत्र जनस्वास्थ्य हो, लोकतन्त्र हो, मानव अधिकार या राजनीतिक स्थिरता आदि हो। इसलिये समग्र दृष्टि को मद्देनजर रखना चाहिये-विशेषतः प्रायमरी शिक्षा के प्रति। गांधी के विचार भी समग्रता के दृष्टिकोण से परिपूर्ण थे। गांधी के शिक्षा सम्बन्धी विचार भी समग्र दृष्टिकोण आधारित थे।

(ठक्कर व अन्य, 2012) ने 'पहले पात्रता, फिर इच्छा' विषयक शोधकार्य किया है। यूनेस्को की महानिदेशक ने फरवरी 2013 में कहा कि बदलते वैश्विक दशा में शिक्षा में आमूल बदलाव पर विचार करें। शोधार्थियों ने पाया कि विश्वभर में अधिकतर लोग खाना, शक्ति, अर्थदशा आदि निहायत जरूरी आवश्यकताओं की वस्तुओं व स्थितियों के असमान/विषम वितरण की समस्या के दबाव से पीड़ित हैं। शोधकर्ताओं ने पाया कि वर्तमान दशा में संधारणीय विकास हेतु मानव गरिमा व सामर्थ्य को बनाने व बनाये रखने की जरूरत है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में गाड़ी के पीछे घोड़े बाँध रखे गये हैं। अतः वक्त की माँग है कि मानव को मानव बना रहने दें और इन्सान का इन्सान से भाईचारा बनायें व बनायें रखा जाय।

(ठक्कर, 2015) ने पाया कि स्वच्छ भारत अभियान हो या ऐसा कोई अन्य अभियान हो, तब तक सफलता प्राप्त नहीं होगी जब तक कि मन-वचन-कर्म से लगातार अभ्यास करके पारंगतता हासिल कराने वाली शारीरिक-सह-मानसिक-सह-आध्यात्मिक सायुज्य प्रारंभिक शिक्षा नहीं दी जायेगी। इस प्रकार की शिक्षा दिये जाने से ही समग्र जीव-जन्तु-दृश्य व अदृश्य प्राकृतिक देन [मनुष्य सहित] की संधारणीय और पीड़ाविहिन स्थिति प्राप्त हो सकेगी।

(ठक्कर, 2014) ने पाया कि परिस्थितिकीय की समझ, जीवन हेतु आवश्यक साधन, पर्यावरण के प्रति संवेदना, पर्यावरण के व पर्यावरण के संपोषण तथा संरक्षण के ज्ञान के निहितार्थ, तथा पर्यावरण के संपोषण व संरक्षण के कार्यों का शिक्षक व शिक्षार्थियों द्वारा अभ्यास करना आदि बातें शिक्षक-प्रशिक्षणार्थियों में समा देने की आवश्यकता है। शिक्षक-प्रशिक्षणार्थियों के जीवनचर्या से 'वैश्विक सोच, स्थानीय कार्य' उजागर होना चाहिये।

शिक्षक-प्रशिक्षणार्थियों में वो काबिलियत पैदा हो कि अपने जैसी सोच व व्यक्तित्व के बच्चे बना सकें और ऐसे बच्चे बना सकें जो प्रकृति के प्रति ध्वंसात्मक भावना रखने वाले और कार्य करने वाले लोगों के नजरिये को बदल सकें।

शारीरिक विकास

“उस आदमी ने सच्ची शिक्षा पाई है, जिसके शरीर को ऐसी आदत डाली गई है कि वह उसके बस में रहता है, जिसका शरीर चैन से और आसानी से सौंपा हुआ काम करता है।” “जो शास्त्र मैंने गिनाये हैं उनका उपयोग मेरे शरीर या मेरी इन्द्रियों को बस में करने के लिए मुझे नहीं करना पड़ा।” (गांधी, 1949)

“शिक्षा से मेरा मतलब है बच्चे या मनुष्य की समस्त शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सर्वोत्तुखी विकास है।” (गांधी, 1937 सितम्बर 11; हरिजन)

“सच्ची शिक्षा वह है जिसके द्वारा बालकों के शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास को बल मिले।” (गांधी, 1937 सितम्बर 11; हरिजन पत्रिका)

“सच्ची शिक्षा वही है जो बालक की आत्मिक, बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमताओं को जाग्रत कर, उसका सर्वांगीण विकास कर सके।” (गांधी, 1937 सितम्बर 11; हरिजन).

“हमारी शिक्षा को क्रान्तिकारी होना चाहिये। दिमाग को हाथों के द्वारा प्रशिक्षित किया जाना चाहिये। हम यह क्यों सोचते हैं कि दिमाग ही सब कुछ है और हाथ और पैर कुछ भी नहीं।” (गांधी, 1937; हरिजन, पृ.65).

(गांधी, 1937 अप्रैल 11; हरिजन बन्धु) व (गांधी, 1937 अक्टूबर 2; हरिजन सेवक) ने शारीरिक शिक्षा के सम्बन्ध में कहा है: “यदि बचपन से न रहे।” तथा “मस्तिष्क की भाँति ... हमें गौरवान्तिक करना सीखना चाहिये।”, जिनका वर्णन एतद्पूर्व शिक्षा शीर्षक में किया गया है।

“टहलना भी व्यायामतो है ही, इसमें मेरा शरीर अपेक्षाकृत सुगठित बना।” (गांधी, 1957)

“बाद में मैं समझा कि विद्याभ्यास में व्यायाम का, अर्थात् शारीरिक शिक्षाका, मानसिक शिक्षा के समान ही स्थान होना चाहिये।” (गांधी, 1957)

प्रकृतिवाद के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य में मानवयन्त्र को कुशल बनाना निहित है; प्रायोजनवाद के अनुसार शिक्षा में शारीरिक विकास सहित मानव का समग्र विकास निहित है; यथार्थवाद के अनुसार मानव का शारीरिक विकास शिक्षा में निहित है; जैन शिक्षा में शरीर पर नियंत्रण निहित है। टैगोर के अनुसार शिक्षा में शारीरिक विकास निहित है। अरविंद के अनुसार शरीर का पूर्ण एवं शुद्ध विकास शिक्षा में निहित है। (शर्मा, 2010; ठक्कर, 2012)

शारीरिक शिक्षा से बच्चों के मस्तिष्क का विकास, सीखने की निपुणताओं का विकास, अभिवृत्तियों का विकास, रुचियों का विकास, शैक्षणिक उपलब्धियों का विकास, जीवनशैली में सुधार, सामाजिकता की क्षमता का विकास, चरित्रनिर्माण का विकास और नैतिकता का विकास

भी होता है। बच्चों को शिक्षा पुस्तकों की बजाय उन्हें शारीरिक व मानसिक शक्तियों के तालमेल वाली प्रायोगिक क्रियाओं के द्वारा दिया जाना उत्तम है। (ठक्कर, 2012)

यह निश्चित रूप से पाया गया कि शिक्षा में अनिवार्य रूप से बच्चों के शरीर व शारीरिक क्षमताओं का विकास करने के लिये शारीरिक शिक्षा का दिया जाना वर्तमान में भी अपरिहार्य है और इस प्रकार गांधी के विचार कि शिक्षा का अर्थ शारीरिक विकास करना है आज भी उतना प्रासंगिक है जितना गांधी के समय था। (ठक्कर, 2012)

हर बच्चे का शारीरिक विकास बहुत आवश्यक है। शारीरिक विकास न होने की दशा में, या शरीर की अस्वस्थता की दशा में बच्चे का नैतिक विकास, बौद्धिक विकास तथा आध्यात्मिक विकास, जिन पर मानव जीवन आधारित है, अवरुद्ध होता है। अर्थात्, बच्चे का वाँछित विकास होगा ही नहीं और मानव के नाम पर पशुवत ही बना रहेगा। बच्चे का शारीरिक विकास तब ठीक से होगा जब उन्हें शरीर-विज्ञान से तथा स्वास्थ्य रक्षा के कायदे-कानूनों से अवगत कराया जाये तथा उनको उनकी अनुपालना करना सिखाया जाये। मानव शरीर संसार के सभी प्रणिमात्र के शरीर से श्रेष्ठ है क्योंकि मनुष्य को अद्वितीय मस्तिष्क और विचार करने की शक्ति मिली है।

बच्चों को सर्वप्रथम मानव शरीर विज्ञान {यानी संसार के अन्य प्रणियों के शरीर में श्रेष्ठ शरीर}; अर्थात्, उनके स्वयं के शरीर के विज्ञान; से परिचित कराना चाहिये, और इसके बाद अन्य प्राणियों के शरीर व वस्तुओं का ज्ञान कराना चाहिये। मानव-शरीर को एक मन्दिर कहा जाता है। पुजारी (1) मन्दिर में स्वच्छता व पवित्रता बनाये रखने का कार्य करता है, (2) मन्दिर को स्वस्थ रखता है। स्वस्थ रखने का आशय है कि मन्दिर की दीवारों, खिडकी-दरवाजों आदि को मरम्मत आदि तरीकों से सुरक्षित रखना तथा (3) मन्दिर को प्रार्थना-ध्यान-साधना हेतु उपयुक्त स्थल के रूप में सुन्दर बनाये रखता है। ठीक उसी तरह बच्चों को उनके शरीरों को साफ-सुथरा, पवित्र, बनाये रखना सिखाना चाहिये।

शरीर-विज्ञान की बातें सिखाना बच्चों को उनके शरीर के (1) अस्थितन्त्र, (2) पेशी तन्त्र, (3) पाचन तन्त्र (मुख, पेट, दांत, पिताशय, आँत, यकृत आदि ग्रन्थियाँ), (4) स्वास तन्त्र, (नाक, फेफड़े, मुख, गला, स्वास नली आदि), (5) रक्त तन्त्र (हृदय रक्त नलिकायें), (6) उत्सर्जन तन्त्र (यथा, त्वचा, वृक्क और मूत्राशय आदि) व रक्त के कार्य व बनावट, (7) नाड़ी तन्त्र (मस्तिष्क, मस्तिष्क के कोष, न्यूरान, व अन्य नाड़ियाँ आदि), (8) शरीर को बनाने वाले महाभूत, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अन्तःकरण, व अहम् आदि, (9) पोषक तत्वों (यथा, वायु, जल, प्रकाश, अन्न) {कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा (फैट्स), विटामिन, खनिज लवण (मिनरल), कैल्सियम (चूना), लोहा(आयरन) आदि} (10) नाशक तत्वों (यथा, दूषित वायु, दूषित जल, हानिकारक अन्न, झूठा भोजन, मादक पदार्थों: मदिरा आदि) से अवगत कराना चाहिये तथा उपयोग कर अभ्यस्त बनाना सिखाना चाहिये तथा हानिकारक चीजों से/व्यवहार से दूर रहना सिखाना चाहिये।

बच्चों को, उपरोक्त शिक्षा दें और उन बातों को करने का अभ्यस्त भी बनायें।

स्वतंत्र

बच्चों के अन्दर विद्यमान अदृश्य तत्वों का भी ज्ञान कराना चाहिये, जिसे स्व-तन्त्र कहते हैं। 'स्व-तन्त्र', अंतःकरण, मानव को कर्म-ध्यान-भक्ति कराने वाली मशीनरी। इस तंत्र में 4 भाग होते हैं- मन, बुद्धि, चित्त, और अहम्। (शिवदयाल, 2009)

बच्चों को उपरोक्त मन व बुद्धि आदि बातों को विशेषतौर व अच्छी तरह व निरन्तर अभ्यास कराते हुए खुद अनुभव करना सिखाना उचित समझा जाता है क्योंकि ये चीजें मूर्तरूप (दृश्यरूप) नहीं होती हैं, सिर्फ अभ्यास करके अनुभूति योग्य ही होती है।

मन संकल्प विकल्प करता है। मनको इंद्रियों का संचालक समझा जाता है। मन की आज्ञा से ही कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, गुदा, वाणी व जनेन्द्रिय) कार्य करती हैं। अर्थात्, हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियाँ मन की आज्ञा से काम करते हैं। उदाहरण बतौर:- जब मन कहीं दूसरी जगह व्यस्त हो जाता है, तो कोई यदि हमारी आँखों के सामने से निकल जाए, लेकिन हमारी आँखें कुछ नहीं देख पाती, और इसी प्रकार मन के अन्यत्र व्यस्त होने पर हम कोई भी ध्वनि को /शोरशराबे को कान से नहीं सुन सकते। ठीक इसी प्रकार हमारी ज्ञानेन्द्रियों (कान, त्वचा, नेत्र, जीभ व नाक) के आदेश से मन कार्य करता है। (शिवदयाल, 2009)

बुद्धि मानव-शरीर के अंदर एक जज (न्यायाधीश) की तरह रहती है। बुद्धि यह निर्णय करती है, कि क्या उचित है, क्या अनुचित है, क्या अच्छा है, और क्या बुरा है। (शिवदयाल, 2009)

बात को समझने के लिये कह सकते हैं कि बुद्धि यदि न्यायाधीश है, तो मन मंत्री है। यदि मंत्री (मन) न्यायाधीश (बुद्धि) के आदेशो का पालन करें, तभी शासन व्यवस्था ठीक रहती है। अर्थात्, यदि मन बुद्धि के आदेश की ही पालना करे तो सब ठीक रहता है।

चित्त

चित्त व्यक्ति के मस्तिष्क में एक कोष है, जिसमें सभी अच्छे व बुरे संस्कार जमा होते रहते हैं। मानव जो भी कार्य करता है, सोचता है, सुनता है, देखता है, जहाँ भी रहता है, उससे संस्कार बनता है। (शिवदयाल, 2009)

सभी प्रकार के सभी संस्कारों के समूह से स्वभाव बनता है और जैसा व्यक्ति का स्वभाव होता है, उसी के अनुसार व्यक्ति का व्यक्तित्व होता है, वैसा ही वह बोलता, चालता, व्यवहार, व काम करता है। स्पष्टतः यह स्वभाव व्यक्ति के चित्त में होता है।

अहम्

अहम् हमारा अस्तित्व और चेतना है। अहम् नियम/कानून बनाता है। कानून का मनरूपी मंत्री को पालन करना चाहिये। यदि मंत्री (मन) कानून का पालन न करें, तो व्यक्ति की, व्यक्ति के स्व-तन्त्र की, समाज की और शासन की व्यवस्था बिगड़ जाती है। (शिवदयाल, 2009)

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्व-तन्त्र को सुव्यस्थित रखने के लिये व्यक्ति को चाहिये कि मन को नियंत्रण में रखे (निग्रह करे), जिससे वह (मन) बुद्धि के आदेशों का पालन करे, नियमों का पालन करे (अर्थात्, धर्म का पालन करे)। साथ-ही-साथ व्यक्ति अपनी बुद्धि का विकास करे ताकि बुद्धि शीघ्र समझे, सही समझे और शीघ्र निर्णय करे। और भी साथ-साथ मानव को (1) अपने चित्त की शुद्धि करना होती है ताकि अच्छा स्वभाव और अच्छे संस्कार ही चित्त में रहें और बुरे संस्कारों को बाहर निकाल दिया जाए। (2) व्यक्ति को अपने अहम् में भी सुधार करना चाहिये, क्योंकि अहम् ही उस व्यक्ति का अपना मित्र है और अहम् ही उस व्यक्ति का अपना शत्रु है। अहम् अपना मित्र होता है जब वह स्वयं को ऊपर उठाता है और जब अहम् व्यक्ति को नीचे गिराता है, वह अहम् उसका शत्रु है।

बच्चों को स्वास्थ्य-रक्षा सिखाना

बच्चों को उनके स्वास्थ्य की रक्षा करना सिखाने के लिये निम्न बातें सिखाया जाना उपयुक्त समझा जाता है:—(1) प्राथमिक नियम पालन (यथा, व्यायाम करना, शुद्ध व सादा भोजन करना, जल्दी उठना-सोना-पूरी गहरी नींद लेना आदि), (2) शरीर को स्वच्छ रखने की अनिवार्य आदतें सिखाना (यथा, जीभ की सफाई, दांत की सफाई, नाक की सफाई, कान की सफाई, नाखूनों की सफाई, वस्त्रों की सफाई आदि)। व्यायाम की आदत बच्चों में डालने के लिये निम्न बातें करना सिखाया जाना उचित समझा जाता है:— 1. पद्मासन 2. धनुरासन 3. वज्रासन 4. सूर्य नमस्कार 5. सरल प्राणायाम 6. नेत्र व्यायाम, 7. शिथिल आसन, 8. हँसना 9. विश्राम आसन, 10. खेलकूद आदि उपरोक्त बातों के अतिरिक्त बच्चों को स्वावलम्बी बनाना सिखाना चाहिये तथा श्रम करने की आदत डालना चाहिये।

स्वावलंबन

बच्चों का स्वावलंबी होना उनके लिये सब प्रकार से लाभदायक है। बच्चों में उनके अपने काम स्वयं करने की आदत डलवानी चाहिये क्योंकि इससे उनके मन में संतोष रहता है और वे अपने उद्देश्य और कर्तव्य को ठीक से समझ पाते हैं तथा दूसरों को अकारण असुविधा नहीं देते हैं। (शिवदयाल, 2009)

श्रमशीलता

“बच्चों को जो भी दस्तकारी सिखाई जाये, उसके द्वारा उन्हे पूरी तरह से शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक शिक्षा दी जाये।” (गांधी, 1938 जून 11; हरिजन सेवक)।

हर एक के लिये, बच्चा हो या बड़ा, कठिन परिश्रम करना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है। श्रमशीलता विद्या के लिए तो है ही, साथ-ही-साथ कठिन परिश्रम करने से और-अधिक परिश्रम करने की शक्ति उत्पन्न होती है क्योंकि प्रकृति का यह नियम है, *‘हार्ड वर्क जनरेट्स पावर टू वर्क हार्डर’* / (शिवदयाल, 2009)

निष्कर्ष यह है कि गांधी के नीतिशिक्षा के दृष्टिकोण से अन्य प्रकार की शिक्षाओं के साथ, बच्चों के सन्तुलित और समग्र विकास करने के लिये, शारीरिक शिक्षा को दिया जाना चाहिये। यह शारीरिक शिक्षा इस तरह की होना चाहिये ताकि शरीर बच्चों के वश में रहे और साथ ही शरीर के अन्दर विद्यमान मन, बुद्धि, चित्त, अहम् व आत्मा तत्वों को वश में रखते हुए बच्चे नीति का पालन कर सकें और शिक्षा के दौरान ही अपने शारीरिक श्रम से कोई उद्योग को करने में प्रवीणता हासिल करें और अपने को स्वावलम्बी बनायें।

आध्यात्मिक विकास

“आध्यात्मिक का मतलब है नैतिक; धर्म का अर्थ है नीति; आत्मा की दृष्टिसे पाली गयी नीति धर्म है।” (गांधी, 1957)

आध्यात्मिक/आत्मा के विकास हेतु बनी नीति धर्म है। (ठक्कर, 2012)

“मुझे जो करना है, तीस वर्षों से मैं जिसकी आतुर भाव से रट लगाये हुए हूँ, वह तो आत्म-दर्शन है, ईश्वरका साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरे सारे काम इसी दृष्टिसे होते हैं। मेरा सब लेखन भी इसी दृष्टिसे होता है; और राजनीतिके क्षेत्र में मेरा पढ़ना भी इसी वस्तु के अधीन है।” (गांधी, 1957)

“मनुष्य जीवन के मुख्य रूप से तीन पक्ष हैं— प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक।...सामान्यतः आध्यात्मिक सिद्धान्तों एवं नियमों एवं उनके पालन को धर्म कहते हैं।...वस्तुतः आध्यात्मिक पूर्णता: की प्राप्ति हेतु धारण किए जाने वाले आचार-विचार का ही नाम धर्म है, परन्तु धर्म के सम्प्रत्यय के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं है। कुछ विद्वान आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान (दर्शन) को धर्म मानते है और कुछ विद्वान आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति हेतु किए जाने वाली क्रियाओं को धर्म मानते हैं। हमारी दृष्टि से ये दोनों धर्म के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पक्ष हैं, एक से मनुष्य के आध्यात्मिक विचारों का बोध होता है और दूसरे से आध्यात्मिक आचरण का।

इन्हें अलग से धर्म मानना उचित नहीं, धर्म तो आध्यात्मिक आचार-विचार का संयुक्त रूप होता है।” (शर्मा, 2010)

आध्यात्मिक रूप से विकसित होना आस्तिक, नास्तिक व उदासीन सभी के जीवन के लिये उच्च उद्देश्य होता है क्योंकि इसका संबंध किसी प्रचलित धर्म से नहीं होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति से व्यक्ति शुद्ध व शान्त बुद्धि, न्यायदर्शिता, प्रेमधारणता, सद्भावयुक्त, अहिंसापालकता, सत्यानुगामी, अपरिग्रहता, अस्तेयता, निर्भयता, अस्वादयुक्त, नम्रतायुक्त, सर्वधर्म-समभाव धारणता की स्थिति को प्राप्त होता है। इन स्थितियों को प्राप्त करने की सबसे उत्तम अवस्था बाल्यकाल होती है जब मस्तिष्क अन्य सांसारिक प्रलोभनों से मुक्त होता है, सांसारिक क्रियाओं में लिप्तता के न होने के कारण पर्याप्त समय होता है, तथा किसी भी चीज को सीखने का सबसे उपयुक्त अवस्था होती है। (ठक्कर, 2012)

(आफ्सटेड, 1996), (रोएलकेपारटेन, किंग, वेगनर, और बेन्सन; 2005), (बेन्सन व अन्य, 2003), (आफ्सटेड, 2004), (आफ्सटेड, 1994), (बेन्सन व अन्य, 2003), (क्राफोर्ड व अन्य, 2006), व (हार्ट, 2006), जिनके बारे में अध्याय-2 में वर्णन किया जा चुका है और पुनरावृत्ति नहीं की जा रही है, ने आध्यात्मिक अनुभूति को शिक्षा व सत्य के ज्ञान के प्राप्त करने का; मानव विकास करने का; मानव की आन्तरिक क्षमता को विकसित करने का; मानव का अर्थ, उद्देश्य, व योगदान का ज्ञान कराने का; स्वयं की पहचान, स्व-मूल्य, व्यक्तिगत अन्तर्दृष्टि विकसित करने का साधन बताया है। आध्यात्मिकता का स्वास्थ्य-हानि के साथ नकारात्मक सम्बन्ध पाये जाने का; आध्यात्मिकता को मानव विकास व मानव कल्याण का स्रोत पाये जाने का; आध्यात्मिकता से आपसी प्रेम संबंध, सामाजिकता, नैतिक व व्यक्तिगत विकास होना आदि अनेक फायदे भी बताये हैं।

आध्यात्मिक विकास के दो पक्ष हैं:—1. तत्व ज्ञान, व 2. साधना। इनके बारे में निम्न विचार हैं।

तत्व ज्ञान

समस्त सत्ता में तीन तत्व हैं:—जगदीश, जगत और जीव। (शिवदयाल, 2009)

जगदीश शाश्वत है, शुद्ध चैतन्य है, प्रकाशरूप है, परमानंदस्वरूप है, सर्वशक्तिमान है, तथा एकैवाद्धितीय परमेश्वर है। (शिवदयाल, 2009)

जगत अनित्य है, अचेतन है, तथा सतत परिवर्तनशील है। (शिवदयाल, 2009)

जीव नित्य है, चेतन है, तथा आनंदस्वरूप है; किंतु अहंता और ममता के कारण देह को ही अपना सबकुछ मान लेता है और प्राकृतिक तत्वों में सुख-दुःख की अनुभूति करता है, जिससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। (शिवदयाल, 2009)

शरीर में अहंता और प्राकृतिक तत्वों में ममता और उनके प्रति राग-द्वेष से जीव वैसे ही बँधा रहता है, जैसे कीट और मरकट। एक उदाहरण है:— बहेलिया तोते पकड़ने के लिए टहनियों को इस प्रकार बनाता है कि जैसे ही तोता उस पर बैठे टहनियाँ पलट जाए/उलटी हो जाए और पक्षी भूमि की ओर लटक जाए। पक्षी लटककर यह सोचकर टहनी नहीं छोड़ता कि छोड़ूँगा तो नीचे धरती पर गिर जाऊँगा। बस बहेलिया आकर पक्षी को पकड़ लेता है और पिंजरे में बंद कर देता है। एक दूसरा उदाहरण:— बंदर को पकड़ने के लिए एक संकरे मुँह के बर्तन के अंदर चने डाल दिये जाते हैं। बरतन का मुँह इतना संकरा होता है जिसमें खुला हुआ हाथ तो चला जाए किंतु यदि मुट्टी बना ले तो हाथ न तो अंदर जा सकता है और न ही अंदर से बाहर आ सकता है। बंदर चने के लिए हाथ डालता है, चने मुट्टी में पकड़ता है, किंतु वह अपना मुट्टी बँधा हाथ बर्तन से बाहर नहीं निकाल पाता और साथ ही चने भी नहीं छोड़ता और सोचता है चने मेरे हैं, चने नहीं छोड़ूँगा। बस वह पकड़ लिया जाता है और पिंजरे में बंद कर दिया जाता है। ये हैं शरीर में अहंता और प्राकृतिक तत्वों में ममता के उदाहरण। (शिवदयाल, 2009)

मानव प्रश्न करता है कि फिर मैं कौन हूँ? उत्तर है कि मैं/मनुष्य जीवात्मा हूँ/हैं, ईश्वर का अंश हूँ/हैं, चेतन हूँ/हैं, सहज सुखरासी हूँ/हैं, किंतु फिर भी अहिंता और ममता— अर्थात्, मैं और मेरापन, अर्थात् माया के वशीभूत— के बंधन में हूँ/हैं। (शिवदयाल, 2009)

ठीक है कि मैं जीवात्मा हूँ, ईश्वर का अंश हूँ, चेतन हूँ, लेकिन फिर प्रश्न उठता है कि 'मैं/मनुष्य क्यों हूँ/हैं ?' उत्तर है कि मैं/मनुष्य मुक्ति, भुक्ति, और भक्ति के लिये हूँ/हैं। (शिवदयाल, 2009)

1. मुक्ति के लिए हूँ— अर्थात्, अहंता और ममता से छुटकारा पाने के लिए हूँ—
 2. भक्ति के लिए हूँ— अर्थात्, अपने अंशी ईश्वर से नित्य एकत्व व अखंड मिलन के लिए हूँ—
 3. भुक्ति के लिए हूँ— अर्थात्, जगत की वस्तुओं के सदुपयोग के लिए हूँ।
- इनके नित्य प्रति चिंतन करने और बिखरी हुई चित्त-वृत्तियों के प्रत्याहार से मानव को 'स्व' /स्वयं की पहचान होती है। (शिवदयाल, 2009)

तब प्रश्न उठता है कि ये ईश्वर/जगदीश क्या है?

समस्त जीव जिसके अंश है और समस्त जगत का जो रचयिता है व स्वामी है, वह जगदीश 'ईश्वर' परमात्मा और परमेश्वर है। वह एक है, नाम अनेक हैं। जगदीश एक ही है, अद्वितीय है। यह जगदीश परम सत्य है, प्रकाशरूप है, परम ज्ञानस्वरूप है। जगदीश दयालु है, देवों का भी देव है। वह सृष्टि का रचयिता है। समस्त विश्व और विश्व में जो कुछ है, सब कुछ उसका है।

वही सबका रक्षक भी है। वह जन-जन में कण-कण में व्याप्त है। वह विश्व आत्मा है। वह सर्वज्ञ है, सब कुछ जानता है। वह परम-ज्ञान-आनंदस्वरूप है। वह सर्वसमर्थ है, सर्वशक्तिमान है। (शिवदयाल, 2009)

ईश्वर के अनेक गुण हैं। ईश्वर अनंत है, और उसकी शक्तियाँ अनंत हैं। अपनी सीमित बुद्धि से उसे जानना संभव नहीं है, किंतु उसको व उसकी शक्तियों का अनुभव होता है। जबकि दृश्य जगत (अर्थात् वस्तु, शरीर, परिस्थितियों के पारमार्थिक सत्य, व्यवहारिक सत्य और प्रतिभासिक सत्य) को जानना होता है। ईश्वर ओउम है, वाहेगुरु है, अल्लाह है, राम है, परम सत्य है, परम पुरुष है। ईश्वर एक है, किन्तु उसके नाम अनगिनत हैं, व उसके रूप अनगिनत हैं। ईश्वर सदा था, ईश्वर सदा रहेगा, ईश्वर प्रकाश रूप है, ईश्वर परम दयालु है, ईश्वर की कृपा की कोई सीमा नहीं है, ईश्वर की कृपा के कोई नियम नहीं हैं, ईश्वर दया सिंधु है, ईश्वर करुणानिधान है, ईश्वर दीनानाथ है, ईश्वर परम उदार है, ईश्वर जो कुछ करता है वह न्याय और दया के आधार पर करता है, ईश्वर सब में है, सभी ईश्वर में हैं, सब ईश्वर ही हैं, ईश्वर सर्वत्र है, ईश्वर सब देखता और सुनता है, ईश्वर अंतर्दामी है, तथा ईश्वर हमारे हृदय में सदा विराजमान रहता है। (शिवदयाल, 2009)

तब प्रश्न उठता है कि ये ईश्वर क्या करता है? जब हम सत्कर्म करना चाहते हैं और अंतर्मुख होकर उस की ओर देखते हैं, उसकी प्रेरणा मांगते हैं, तो वह अंतर्दामी हमारे अंदर बैठे-बैठे हम को प्रेरणा देता है। हमारा मार्गदर्शन करता है, अर्थात्, जितने क्षण हमारा जीवन साधनामय होता है, उतने क्षण वह अनुमंता बना रहता है। (शिवदयाल, 2009)

जब हम साधना में और जीवन में सत्य कर्म करते हुए थकने लगते हैं, अथवा कर्तव्य पूरा नहीं हो रहा हो या उस में कुशलता नहीं आ रही हो और हम प्रार्थना करें 'प्रभु मुझे और बुद्धि चाहिए, मुझे और शक्ति चाहिए', तब तुरंत 'वह' (ईश्वर) भर्ता बनकर बुद्धि और शक्ति देता है और हमारा काम संवार लेता है, हमको सहारा और उत्साह देता है। (शिवदयाल, 2009)

जितने क्षण हम समर्पणमय जीवन में रहते हैं, अर्थात् अपने कर्मफल और स्वयं अपने को समर्पित रखते हैं, तब 'वह' (ईश्वर) भोक्ता हो जाता है, हमारे सुख-दुःख, लाभ-हानि सब वह स्वयं भोगता है। (शिवदयाल, 2009)

इस प्रकार, जगदीश/ईश्वर मानव का अनुमन्ता, भर्ता व भोक्ता है। (शिवदयाल, 2009)

तब प्रश्न उठता है कि इस ईश्वर को हम क्यों मानें?

इस ईश्वर को अनिवार्यतः जानने व मानने के तीन कारण हैं—1. धर्म ग्रंथ प्रमाण हैं, 2. ऋषियों की बात मानते हैं, और 3. उसके अनन्त गुण होते हैं, और इन अनन्त गुणों से सबको समय-समयपर उसका अनुभव होता है। यदि व्यक्ति में श्रद्धा है और मौलिक सत्य को समझने की लालसा है, तो हमारे अंतः में उसकी प्रेरणाएं होती हैं। उसके नामों से हमें अनुभव होता है और इस प्रकार जिन विद्वानों में उस अनुभव से जाना है वह उनको लिख देते हैं। इसी प्रकार संत महात्मा भी जगदीश/ईश्वर को बताते हैं। (शिवदयाल, 2009)

जगत क्या है?

जगत का अर्थ है, वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति। इसमें विद्या और अविद्या रहती है।

विद्या का अर्थ यह जानना है कि ईश्वर की प्रेरणा से जगत की रचना होती है, संरक्षण होता है, और विनाश भी होता है। (शिवदयाल, 2009)

अविद्या से मतलब है, 'मैं और मेरा' और 'तू और तेरा' की भावना से मनुष्य का ग्रसित होना। अविद्या से अहंकार और आसक्ति उत्पन्न होते हैं, फिर अहंकार से कामना जनित होती है। (शिवदयाल, 2009)

अहंकार और आसक्ति, जीव के आवरण हैं, जो जीव को जगदीश/ईश्वर से (अर्थात्, आत्मा को परमात्मा से) दूर रखते हैं। अहंकार और आसक्ति, आत्मा और परमात्मा के मिलन में बाधाएं हैं। (शिवदयाल, 2009)

व्यक्ति का भौतिकरूप से दिखने वाला यह शरीर भी जगत का अंश है। यह शरीर पाँच महाभूतों से निर्मित है। शरीर का जो ढाँचा (अर्थात् हड्डियाँ, मांसपेशियाँ और त्वचा आदि) का रूप जो हमें दिखाई देता है, वह स्थूल शरीर है और इसी के अंदर पंचमहाभूत तथा प्रत्येक पाँच महाभूतों की पांच ज्ञानेंद्रियाँ तथा पांच कर्मेंद्रियाँ हैं। इसके अतिरिक्त, मन, बुद्धि और अहंकार तीन तत्व और भी होते हैं। (शिवदयाल, 2009)

अर्थात्, जगत के/ प्रकृति के 8 भाग हैं। इसमें पहले 5 को महाभूत कहते हैं और शेष 3 को मन, बुद्धि और अहंकार के नाम से जाना जाता है।

इन 8 तत्वों का सदुपयोग करना मानव जीवन की सफलता की कुंजी है। (शिवदयाल, 2009)

पहला महाभूत तत्व है, आकाश। उससे उत्पन्न होता है; विषय शब्द, ज्ञानेंद्रिय कान, और कर्मेंद्री वाणी। उदाहरणः—

इसका सदुपयोग होता है, जब 1. कर्तव्य पालन और अन्य शुद्ध कर्मों में कानून और वाणी का उपयोग हो, 2. इसका सदुपयोग होता है जब ईश्वर के रूप स्वभाव गुण आदि को सुना और कहा जाये, 3. ईश्वर के नाम का जप करना इसका सदुपयोग होता है, 4. दूसरों के सद्गुणों को कहना और सुनना इसका सदुपयोग होता है, 5. सत्य—प्रिय—हितकारी वचन (यानी विचार करके बोलना), आदि। (शिवदयाल, 2009)

इसी आकाश नामक महाभूत के दुरुपयोग के उदाहरण हैं, 1. जो नहीं सुनना चाहिए (अर्थात्, परनिंदा को सुनना इत्यादि), उसे सुनना, 2. जो नहीं बोलना चाहिए, वह बोलना (अर्थात्, असत्य-अप्रिय-अहितकारी वचन बोलना), आदि। (शिवदयाल, 2009)

दूसरा महाभूत तत्व है, वायु। इसका विषय है, स्पर्श और जिसकी ज्ञानेंद्री व कर्मेद्री हैं, क्रमशः त्वचा और हाथ। उदाहरण:-

वायु नामक महाभूत के सदुपयोग के उदाहरण हैं:-1. वर्तमान नियत कर्तव्य और अन्य शुद्ध कार्य करना, 2. पूजा करना, 3. सेवा करना, 4. दान देना, आदि।

वायु नामक महाभूत के दुरुपयोग के उदाहरण हैं:-1. जो नहीं लेना चाहिए या नहीं छूना चाहिए, उसे लेना या छूना, 2. जो नहीं करना चाहिए, वह हाथों से करना, आदि।

तीसरा महाभूत तत्व है, तेज/अग्नि। इसका विषय होता है, रूप, और जिसकी ज्ञानेंद्री व कर्मेद्री हैं, क्रमशः नेत्र और पैर। उदाहरण:-

अग्नि नामक महाभूत के सदुपयोग के उदाहरण हैं:-1. कर्तव्य पालन और अन्य शुद्ध कर्मों में आँखों और पैरों का उपयोग करना, 2. ईश्वर के दर्शन करना, 3. स्वाध्याय करना, आदि। (शिवदयाल, 2009)

अग्नि महाभूत के दुरुपयोग के उदाहरण हैं:-1. जो नहीं देखना चाहिए, वह देखना, 2. जहाँ नहीं जाना चाहिए, वहाँ जाना, आदि।

चौथा महाभूत तत्व होता है, जल। इसका विषय है रस, और जिसकी ज्ञानेंद्री व कर्मेद्री हैं, क्रमशः रसना और उपस्थ। उदाहरण:-

जल नामक महाभूत के सदुपयोग करने के उदाहरण हैं:-1. स्वास्थ्य रक्षा के लिए दोष रहित और गुणकारी भोजन करना, 2. शरीर से दूषित तत्वों का विसर्जन करना, आदि।

जल नामक महाभूत के दुरुपयोग के उदाहरण हैं:- जो नहीं खाना चाहिए (अर्थात्, दोषयुक्त खाद्य) वह खाना; जो नहीं पीना चाहिए, वह पीना आदि। (शिवदयाल, 2009)

पाँचवाँ महाभूत तत्व है, पृथ्वी। इसका विषय है गंध और जिसकी ज्ञानेंद्री व कर्मेद्री हैं, क्रमशः नाक व गुदा। उदाहरण:-

पृथ्वी नामक महाभूत के सदुपयोग के उदाहरण हैं:- प्रसादस्वरूप गंध, धूप, इत्र आदि का सेवन करना।

पृथ्वी नामक महाभूत के दुरुपयोग के उदाहरण हैं:- जो नहीं सूँघना चाहिए, वह सूँघना। (शिवदयाल, 2009)

मन होता है, ज्ञानेंद्रियों और कर्मेद्रियों का अध्यक्ष। मन संकल्प-विकल्प करता है। जो कुछ हम सुनते-देखते, खाते-पीते, छूते और सूँघते हैं, उन सब का प्रभाव मन पर पड़ता है।

जब मन ही अशुद्ध (यानी, महाभूत के विषय से आसक्त) होता है, तो मानव सांसारिक बंधनों (भौतिकता) में बंधता है।

जब मन शुद्ध होता है (यानी, महाभूत के विषय से विरक्त होता है), तो यह शुद्ध मन मानव को मुक्त करता है। शुद्ध मन में शिवसंकल्प उठते हैं, जो आत्मा की अनंत शक्ति धारण करता है और मानव आत्मवान हो जाता है। यह श्रेष्ठ स्थिति है। और इस श्रेष्ठ स्थिति में मन और इंद्रियाँ, आत्मा से दिव्य-स्पर्श, दिव्य-शब्द, दिव्य-रूप, दिव्य-रस, और दिव्य-गंध प्राप्त कर सकता है।

मन की स्वाभाविक गति जल की भांति नीचे जाने की है, जिसको रोकना ही इसका सदुपयोग है। मन को रोकने के लिए ध्यान आवश्यक है। मन अभ्यास और वैराग्य से शुद्ध होता है। (शिवदयाल, 2009)

मन तत्व के सदुपयोग के उदाहरण हैं:-1. शुद्ध संकल्प करना (अर्थात्, जिसमें विवेक का विरोध न हो), 2. बुद्धि के निर्णय का पालन करना, 3. कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को शुभ कार्यों में प्रेरित करना, आदि।

मन के दुरुपयोग के उदाहरण हैं:- 1. अशुद्ध संकल्प करना (अर्थात्, जिनमें विवेक का विरोध हो), 2. बुद्धि के निर्णय में बाधक होना, 3. कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को अशुद्ध या अनुचित कार्यों में लगाना, आदि। (शिवदयाल, 2009)

बुद्धि

बुद्धि का कार्य है, विचार करना, निश्चय करना। चिंतनामिका, यानी चित्त से चिंतन होता है और अनुसंधान होता है। जैसा चित्त होता है, चेतन वैसा तन्मय हो जाता है। (शिवदयाल, 2009)

बुद्धि तत्व के सदुपयोग के उदाहरण हैं:- प्रत्येक संकल्प और प्रत्येक कर्म पर सतर्कता और सावधानी से निर्णय करना, आदि। (शिवदयाल, 2009)

बुद्धि तत्व का दुरुपयोग के उदाहरण हैं:- विषय से आसक्त मन के प्रभाव से निर्णय अथवा तर्क करना, आदि। (शिवदयाल, 2009)

अहंकार

जीव को जगत् से जोड़ने वाली कड़ी है, अहंता, ठीक उसी तरह जिस प्रकार जीव को जगदीश से जोड़ने वाली कड़ी का नाम है भक्ति।

अहंकार, यानी अहंकार की इच्छा मात्र, से कर्म होता है।

अहंकार तत्व के सदुपयोग का उदाहरण हैं:- शुद्ध कर्मों की प्रेरणा देना और उनकी इच्छा करना, आदि।

अहंकार तत्व के दुरुपयोग का उदाहरण हैं:- जीव का देह से तादात्म्य कराना और देह बुद्धि उत्पन्न करना, आदि। (शिवदयाल, 2009)

जगत सम्बन्धी उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि ध्यान से संसार की व्यवस्था को देखने से और चिंतन करने से यह बोध हो जाता है कि इस संसार का एकमात्र स्वामी और एकमात्र कर्ता ईश्वर ही है। (शिवदयाल, 2009)

यह भी स्पष्ट होता है कि मनुष्य आत्मा है, देह नहीं है, और इसलिए देही है। किंतु जब वह अपने को देह समझता है तो यह उसके अज्ञान की स्थिति है। जिसे लोग 'मैं' कहते हैं, वह वस्तुतः जीव है, आत्मा है। (शिवदयाल, 2009)

आत्मा परमात्मा का अंश है। आत्मा परमाणुओं से भी सूक्ष्म एक सत्ता है। आत्मा अजन्मा है, आत्मा अविनाशी है, आत्मा नित्य है। आत्मा परिवर्तनशील है; जबकि देह अनित्य है, नाशवान है और परिवर्तनशील है। आत्मा चेतन है, शुद्ध बुद्ध है, शांतिस्वरूप है, आनंदमय है (अर्थात्, सहज-सुखरासी है)। (शिवदयाल, 2009)

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष स्पष्ट होता है कि 'वह' (ईश्वर), 'यह' (देह) और 'मैं' (जीव / आत्मा) को समझना और उसके अनुसार कार्य करना मनुष्य का परम मानव-धर्म है। (शिवदयाल, 2009)

'वह' (ईश्वर) परम सत्य प्रकाशरूप, परम ज्ञानानन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान, नित्य, अविनाशी, सार्वकालिक, सर्वव्यापक, और अजन्मा है;

जबकि 'यह' (देह) प्रकृति का अंश, पंच-महाभूतों से बना, अनित्य, नाशवान, सतत परिवर्तनशील, जन्मा है; और

जबकि 'मैं' (आत्मा) परमात्मा का अंश, चेतन शुद्ध-बुद्ध-शान्तिस्वरूप, सहज सुखरासी, नित्य, अविनाशी, और अजन्मा किन्तु जन्मशील-देह धारक है। (शिवदयाल, 2009)

जब व्यक्ति (आत्मा) अज्ञानतावश व्यवहार में अपने-आपको देह ही मान लेता है, तो व्यक्ति बोलने लगता है कि 'मैं' यह / वह हूँ और 'मेरा' यह / वह है। यहाँ पर 'मैं' अहंकार सूचक और 'मेरा' आसक्ति सूचक हैं, और इस प्रकार मनुष्य अहंकार और आसक्ति नामक दो आवरणों से युक्त हो जाता है। (शिवदयाल, 2009)

उपरोक्त अहंकार और आसक्ति नामक दो आवरणों से युक्त होने के अलावा भी मनुष्य पर एक 'कामना'-रूपी आवरण और हो जाता है। (शिवदयाल, 2009)

प्रश्न उठता है कि यह कामना क्या होती है, और क्या इस कामना को ही इच्छा या / वासना कहते हैं?

किसी वस्तु से आकर्षित होकर उसे प्राप्त करने का भाव का उत्पन्न होना, इच्छाहोती है।

जब इच्छा मजबूत या थोड़ा टिकती है, तो भाव मन में आता है कि वह वस्तु मुझे मिलनी ही चाहिए' तो इसे कहते हैं कामना। यानी, जो वस्तु मनुष्य को अप्राप्त है, उसके लिये मन में तरंग उठे कि वह कैसे ही मिल जाए, तो यह कामना है।

और जब उस वस्तु के प्रति आकर्षण के आदतन हो जाते हैं और उससे आसक्त हो जाते हैं, तो वह इच्छा वासना का रूप ले लेती है।

कामना से अशांति होती है और कामना के नाश से शांति होती है। इसी प्रकार अहंकार से अशांति होती है और अहंकार के नाश या अहंकार के क्षीण होने पर शांति होती है।

कामना मानसिक-अशांति होती है, और वासना आत्मा पर दोष है। वासना आत्मा को गिराती है। (शिवदयाल, 2009)

ईश्वर का विधान न्याय और दया पर आधारित है। हम जो भी करते हैं, वो सब ईश्वर की प्रेरणा से ही करते हैं। ईश्वर की प्रेरणा से ही हम कुछ करते हैं। ईश्वर की प्रेरणा से ही हममें किसी कार्य को करने का विचार आता है। फिर जो कार्य हम करते हैं, वह भी ईश्वर की दी हुई शक्ति से और उसके द्वारा दी गई बुद्धि से करते हैं। इसलिए मन में यह भाव आना कि 'मैंने' यह किया और 'मैंने' वह किया, यह मिथ्या अहंकार है। तत्त्व ज्ञान यह है कि ईश्वर करता है और इसलिये यह भाव रहना चाहिये कि जो कुछ हुआ अच्छा हुआ और जो कुछ होता है, उसका कर्ता ईश्वर है हम नहीं। यह भाव कि जो कुछ होता है वह ईश्वर करता है, जितने समय हम रखते हैं उतने क्षण हमारी आत्मा पर अहंकार का आवरण क्षीण होता है और ऐसे भाव के लम्बे समय तक रहने से इस आवरण का लोप हो जाता है। (शिवदयाल, 2009)

मानव जीवन में जैसे-जैसे कामनायें, अहंकार, और आसक्ति क्षीण होती जाती है; वैसे-वैसे आत्मा निखरती जाती है, आसक्ति कम होती जाती है, आत्मा व परमात्मा के बीच का आवरण दूर होता जाता है, और परिणामतः आत्मा व परमात्मा का मिलना हो जाता है। (शिवदयाल, 2009)

हममें आत्मा भी व्याप्त है और परमात्मा भी व्याप्त है। किंतु आत्मा पर आवरण होने से आत्मा व परमात्मा का मिलन नहीं होता है। आत्मा की भूख है, आनंद। आत्मा की माँग है, आनंद। और आनंद तो आनंदस्वरूप, आनंदघन के पास ही मिलेगा। इसलिए जितने क्षण आत्मा आनंदघन से जुड़ी रहती है, अर्थात्, आत्मा परमात्मा का योग होता है / मिलन होता है, उतने क्षण आत्मा से आनंद मिलता है। (शिवदयाल, 2009)

हमारी आत्मा हमारे शरीर को लेकर जन्मी है, तो जन्मदाता आत्मा नहीं है। फिर जन्मदाता कौन है? वह परमात्मा/परम-ईश्वर है। उसने हमको इस शरीर का चोला पहनाकर जगत में भेजा है, जिसमें आत्मा भी है। (शिवदयाल, 2009)

अब प्रश्न यह है कि ईश्वर ने हमको शरीर का चोला पहना कर जगत में क्यों भेजा है?

इसमें निम्न तीन बातें मुख्य हैं।

1. पहली बात यह है कि हम जो आत्मा हैं, वह ईश्वर का अंश है। तो अंश का अंशी से मिलन होता है। आत्मा को परमात्मा से जोड़ना मानव का पहला उद्देश्य होता है। आत्मा और परमात्मा को जोड़ने वाली कड़ी होती है भक्ति। जब ध्यान, प्रार्थना, साधना होती है, तो भक्ति होती है।

(शिवदयाल, 2009)

2. दूसरी बात होती है:— अहंकार, आसक्ति और कामना के जो आवरण आत्मा पर चढ़े हुए हैं, यही बंधन हैं। और इससे आत्मा की मुक्ति होना *मानव जीवन का दूसरा उद्देश्य* है।

अहंकार का नाश होने से शांति होती है, और इस स्थिति को कहते हैं निरअहंकारता।

और आसक्ति का पर्दा फटने से भी शांति होती है, इसको कहते हैं अनासक्ति या निर्लिप्तता।

और कामना का नाश होने से शांति मिलती है, उसे कहते हैं, निष्कामता।

इस प्रकार, निरंकारता, निर्लिप्तता और निष्कामता ही मुक्ति है। (शिवदयाल, 2009)

3. तीसरा उद्देश्य जिसे लेकर आत्मा शरीर धारण करके जन्म लेती है, वह है 'अपने नियत कर्म करना'; जैसे कोई डॉक्टर, न्यायधीश, या शिक्षक अपने-अपने काम करते हैं। अर्थात्, डॉक्टर, न्यायधीश, व शिक्षक क्रमशः रोगियों की सेवा करते हैं, अन्याय नहीं होने देते हैं, व विद्या-दान करते रहते हैं। ऐसे ही प्रत्येक मनुष्य को किसी एक अवधि के लिए जो मुख्य कर्तव्य कर्म मिला हुआ है उसे नियत कर्म कहते हैं। यह *मानव जीवन का तीसरा उद्देश्य* है।

(शिवदयाल, 2009)

प्रश्न उठता है कि आनंद कैसे मिलता है? आनंद कब मिलता है?

जब अपने स्वयं का, यानी आत्मा का, परमात्मा से मिलन होता है तो आनंद मिलता है।

(शिवदयाल, 2009)

अब प्रश्न उठता है कि आत्मा सबकी एक है, या अनेक आत्मायें होती हैं?

आत्मा हर एक की भिन्न है। आपकी आत्मा, आपकी आत्मा है और मेरी आत्मा, मेरी आत्मा है। आपकी आत्मा भिन्न है, मेरी आत्मा भिन्न है। आपका शरीर आपकी आत्मा को लेकर जन्मा है, और मेरा शरीर मेरी आत्मा को लेकर जन्मा है। किंतु परमात्मा / विश्वात्मा सबमें एक ही है। वही परमात्मा / विश्वात्मा आप में है और मुझ में भी है और हर एक प्राणी में भी है। वह एक है, अद्वितीय है। (शिवदयाल, 2009)

तो प्रश्न उठता है कि आत्मा से परमात्मा मिलन कैसे हो?

उत्तर है, साधना द्वारा आत्मा से परमात्मा मिलन होता है। और इस प्रकार, साधना को मानव जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि कहा जाता है।

साधना का अर्थ है, ईश्वर से एक हो जाना, ईश्वर के साथ एक हो जाना। अर्थात्, जीव और ईश्वर का मिलन, अर्थात् जीव का ईश्वर से जुड़े रहना। और इसी का मौलिक नाम योग है।

योग, अर्थात् जोड़। जब मानव ईश्वर से निरंतर जुड़ा रहता है, तो उसे कहते हैं, नित्य-योग। यही जीवन का चरम लक्ष्य है। इसके लिए साधना करनी पड़ती है। साधना का अर्थ है कि ईश्वर से जुड़े रहने के लिए अभ्यास करना। प्रश्न है कि साधना कैसे होती है? क्या साधना पर्याय है भक्ति का?

साधना के मुख्य प्रकार हैं:- ध्यान, नाम, जप, और प्रार्थना।

साधना को उपासना भी कहते हैं। किन्तु, उपासना और भक्ति में अंतर है। भक्ति 'होती' है, जबकि उपासना/साधना 'की जाती' है।

साधना से भक्ति दृढ़ होती है। भक्ति दृढ़ होने से साधना सिद्ध होती है।

मानव शरीर से ही साधना होती है; अन्य प्राणी साधना नहीं कर पाते हैं।

प्रश्न उठता है कि साधना और शिक्षार्थी का क्या नाता है और यदि शिक्षार्थी साधना ही करेगा, तो अध्ययन कब करेगा?

विद्यार्थी अपने अध्ययन में जुटा रहे, लगन से लगा रहे, और साथ ही ईश्वर से जुड़ा रहे, तब विद्यार्थी की संपूर्ण और सर्वोच्च साधना होगी। साधना के लिए कोई अधिक विशेष समय आवश्यक नहीं है। आवश्यक है, भावना। और आवश्यक है, ईश्वर की स्मृति। (शिवदयाल, 2009) ईश्वर हमारे हृदय में चार रूपों में विराजमान है:- 1. उपदृष्टा, 2. अनुमन्ता, 3. भर्ता, और 4. भोक्ता।

ईश्वर का पहला रूप है, उपदृष्टा। उपदृष्टा का अर्थ है कि एक ओर से देखते रहना बस, अर्थात् साक्षीरूप। हम भोगमय जीवन में होते हैं, मनमानी करते रहते हैं, कुछ अच्छा काम करते हैं, कुछ बुरा काम करते हैं; किंतु ईश्वर कुछ नहीं बोलता, ईश्वर केवल देखता रहता है, अर्थात् ईश्वर केवल उपदृष्टा होता है। (शिवदयाल, 2009)

ईश्वर का दूसरा रूप है, अनुमन्ता। इसका अर्थ है कि जब हम अपना कर्तव्य करते हैं या अपनी पढ़ाई-लिखाई, खेल-कूद, व्यायाम इत्यादि नियम से करते हैं, लगन से करते हैं, शुद्ध भावना से करते हैं, तो ईश्वर हमारा मार्गदर्शक बन जाता है; ठीक उसी तरह से जैसे पिता और बालक का संबंध। पिता अच्छे मार्ग पर चलने के लिए उत्साहित करता है या मार्ग दिखाता है, ठीक इसी प्रकार ईश्वर भी हमारा अनुमन्ता है। (शिवदयाल, 2009)

तीसरा रूप ईश्वर का होता है, भर्ता। भर्ता का अर्थ है, सहायक। जब हम अपने कर्तव्य में लगे रहते हैं, जिस मार्ग पर चलते हैं, नियम और अनुशासन का पालन करते हैं, तो हमको सफलता अवश्य मिलेगी क्योंकि ईश्वर हमारा सहायक है, भले ही वह दिखता नहीं है। इसी प्रकार यदि हम थक जाते हैं या हमको लगता है कि अभी हम में कुछ कमी है, तो हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं और वह तुरंत हमारा हो जाता है—सहायक हो जाता है। (शिवदयाल, 2009)

चौथा रूप है ईश्वर का, भोक्ता। यानी जब हम ईश्वर में समर्पित होते हैं, (अर्थात् हम जो कुछ करते हैं, वह ईश्वर के लिए करते व ईश्वर का दिया हुआ काम समझकर करते हैं), तो उसका भोक्ता स्वयं ईश्वर बन जाता है। यानी, सफलता व असफलता और सुख—दुख इत्यादि सब ईश्वर ले लेता है। (शिवदयाल, 2009)

नैतिक विकास

नीति की उत्पत्ति संस्कृत की 'नी' धातु से हुई है जिसका अर्थ है— ले चलना। अर्थात् "स्वयं को सामाजिक व्यवहारों, संस्कृति, तथा परम्पराओं के अनुसार ले चलना"। नैतिक शब्द नीति से सम्बन्धित है। (मिश्रा, 2008)।

नैतिक शिक्षा से तात्पर्य ऐसी शिक्षा से है, जो व्यक्ति अथवा बालक के विचारों को शुद्ध बनाती है, उसे उचित एवं अनुचित में भेद करना सिखाती है एवं सद्आचरण करने के लिये प्रेरित करती है। (मिश्रा, 2008)।

नैतिक शिक्षा धार्मिक शिक्षा का अंश है। यह धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत भी दी जा सकती है और स्वतन्त्र रूप से भी। नैतिक शिक्षा नैतिकता एवं चरित्र से सम्बन्धित होती है। नैतिक शिक्षा का धर्म निरपेक्षता से इतना अधिक सम्बन्ध नहीं है। (मिश्रा, 2008)।

आज भी, चारित्रिक एवं नैतिक विकास शीघ्रातिशीघ्र करने की अपरिहार्य आवश्यकता है। इनका विकास सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, निर्भयता, अस्वाद, ब्रह्मचर्य, शारीरिक श्रम द्वारा जीविकोपार्जन, नम्रता, अस्पृश्यता निवारण, स्वदेशी, सर्वधर्म—समभाव के पालन करने और उनका पालन करने में अभ्यस्त होने से ही हो सकता है। (ठक्कर, 2012)

(जोशी, 2003) ने पाया कि गांधी के जीवनकाल और विश्व में आजकल की आर्थिक राजनीतिक व्यवस्थाओं व स्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है। इसलिये गांधी की राजनीति को लोग भले ही असामयिक कहें किन्तु गांधी द्वारा नैतिकता के सम्बन्ध में व्यक्त विचारों की जरूरत वर्तमान में और भी अधिक प्रासंगिक हो गयी है।

बिशप जी. डी. बार्न की अध्यक्षता वाली समिति ने "चरित्र निर्माण के लिये धार्मिक और नैतिक शिक्षा की उपयोगिता स्वीकार की।" (मिश्रा, 2008)।

(मिश्रा, 2008) ने निम्न बिन्दुओं के आधार पर आज नैतिक शिक्षा की आवश्यकता को बताया है— मन की शांति के लिये, चरित्र निर्माण के लिये, बौद्धिक शिक्षा, आर्थिक, अस्त-व्यस्त से छुटकारापाने हेतु, किशोर एवं युवाओं के लिये, अनुशासित जीवन के लिये, राष्ट्रीय एकता एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के विकास के लिये।

(रामानाथन, 2006), (लाल, 2008), (सरकार, 2008), (किशोर, 2009), (तिवारी, 2009), (रावत, 2007) ने भी गांधी की दृष्टि की नीति को प्रशंसनीय पाया तथा उनको अनुपालनीय पाया। इनका विवरण अध्याय-2, साहित्य सर्वेक्षण, में दिया गया है और इसलिये पुनरावृत्ति नहीं की जा रही है।

गांधी के विचार कि धर्म व नीति की शिक्षा देना चाहिये, नीति की नींव मजबूत बनाना चाहिये, इन्द्रियों को वश में रखना सिखाना चाहिये, शुद्ध व शान्त बुद्धि बनाना व विकसित करना चाहिये, तथा उत्तम चरित्र बनाना चाहिये आज भी प्रासंगिक हैं। (ठक्कर, 2012)

“ब्रूबेचर के शब्दों में— नैतिक बातें उन आचरण पद्धतियों को बोधित करती हैं, जिन्हें मनुष्यों ने शताब्दियों से अन्य मनुष्यों के सहवास में विकसित की हैं और जिनसे मनुष्यों का कल्याण हुआ है। महात्मा गांधी के अनुसार—“किसी भी कार्य को कारने में उसे अपना कर्तव्य समझकर उसके प्रति सतर्कता जाहिर करना ही नैतिकता है।” (मिश्रा, 2008)

व्यक्ति का नैतिक विकास मुख्यतः दो बातों पर निर्भर होता है। ये दो बातें हैं: 1. स्वभाव और 2. चरित्र।

नैतिकरूप से विकसित व्यक्ति का स्वभाव 1. पवित्र 2. सरल और 3. उदार होना चाहिये। और व्यक्ति के नैतिक दृष्टि से उसके चरित्र में खास बातें होनी चाहिये कि वह (1) सदाचार का अनुपालक हो, (2) सद्व्यवहार करने वाला हो, और (3) सबसे महत्वपूर्ण बात, दूसरों की (मानवमात्र तथा सृष्टि अन्तर्गत अन्य जीव-निर्जीव अवयवों की) सेवा करता हो।

पवित्रता, सरलता, उदारता, सदाचार, सद्व्यवहार और सेवा के सम्बन्ध में विवेचन नीचे प्रस्तुत है।

व्यक्ति के स्वभाव से, विचार से, कर्म से और वाणी से उसमें वैसे ही संस्कार बनते हैं। (शिवदयाल, 2009)

स्वभाव, विचार, कर्म, वाणी के अलावा उस वातावरण से जिसमें हम रहते हैं, उससे भी संस्कार बनते हैं। उदाहरण बतौर:— माता-पिता के विचार, कर्म, वचन, पारिवारिक वातावरण, विद्यालय का वातावरण, और समाज का वातावरण बच्चों में दिन-प्रतिदिन संस्कार बनाते हैं। (शिवदयाल, 2009)

इस प्रकार जो संस्कार बनते हैं, उनके समूह से ही स्वभाव बनता है। (शिवदयाल, 2009)

प्रत्येक मनुष्य में अग्रवर्णित चार वृत्तियाँ जन्मजात होती हैं, और ये वृत्तियाँ उसमें जीवनभर रहती हैं:— पशुता, मानवता, साधुता और दिव्यता। (शिवदयाल, 2009)

पशुता

पशुता होने पर व्यक्ति में काम, क्रोध, लोभ, छल—कपट, अभिमान, दीनता, द्वेष, ईर्ष्या, हिंसा इत्यादि दोष/दुर्व्यवहार उत्पन्न होते हैं। (शिवदयाल, 2009)

मानवता

मानवता होने पर व्यक्ति के व्यवहार में विनय, सरलता, विनम्रता, सत्य, प्रियता, प्रसन्नता, आत्मविश्वास, आत्मसंयम, स्वावलंबन, कर्तव्य—परायणता, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप, और स्वाध्याय इत्यादि सद्व्यवहार प्रवृत्त होते हैं। (शिवदयाल, 2009)

साधुता

जब व्यक्ति में साधुता वृत्ति होती है, तब उससे सहयोग, उदारता, स्नेह, हितकारिता, और मुदिता (हर्ष) इत्यादि गुणों की अभिव्यक्ति दिखायी देती है। (शिवदयाल, 2009)

दिव्यता

व्यक्ति जब दिव्यता वृत्ति में होता है, तो वह सेवा, परोपकार, प्रेम, श्रद्धा, शरणागति, समर्पण, और प्रसन्नता में लीन होता है। (शिवदयाल, 2009)

जब व्यक्ति मानवता वृत्ति से पशुता वृत्ति की ओर नहीं जाता है, तो स्थिति में रहता है और यह उसकी महानता है। (शिवदयाल, 2009)

जब व्यक्ति मानवता वृत्ति से दिव्यता वृत्ति की ओर उठता, और बढ़ता, तो वह मनोविकास प्रगति करता है। (शिवदयाल, 2009)

प्रश्न उठता है कि मनुष्य क्या है?

मनुष्यउसके उस व्यक्तित्व से जाना जाता है जो कि उसके स्वभाव से ही बनता है। (शिवदयाल, 2009)

स्वभाव की दृष्टि से, मनुष्य के चार प्रकार होते हैं। अधम, मध्यम, उत्तम एवं महान। (शिवदयाल, 2009)

और जैसा कि ऊपर लिखा गया है कि प्रत्येक मनुष्य में चार वृत्तियाँ जन्मजात होती हैं और पूरे जीवनकाल में रहती हैं:—पशुता, मानवता, साधुता और दिव्यता। (शिवदयाल, 2009)

पशुता वृत्ति में व्यक्ति का अधम स्वभाव होता है। इसमें वह अपना हित देखता है, और अपने हित के लिए दूसरों का अहित करता है। बिल्ली चूहे को खाती है, कुत्ता बिल्ली को खाता है।

मानवता में व्यक्ति का मध्यम स्वभाव होता है। इसमें वृत्ति व्यक्ति स्वयं का हित तो देखता है और अपने स्वार्थ में मस्त रहता है, किंतु सावधानी रखता है कि दूसरों का अहित न हो।

साधुता में व्यक्ति का उत्तम स्वभाव होता है। इसमें व्यक्ति अपने हित के साथ-साथ दूसरों का भी हित करता है, अपने साथ-साथ दूसरों को भी गुणवान बनाता है, और अपने साथ-साथ मित्र को भी अवगुण से छुड़ाता है।

दिव्यता वृत्ति में व्यक्ति महान स्वभाव का होता है। इसमें वह ऐसे कार्य करता है कि दूसरों का हित अवश्य हो किन्तु अपना स्वार्थ नहीं हो, दूसरों को सुखी देखकर अपने अन्दर सुख अनुभव करे, और दूसरों को दुखी देखकर करुणा का अनुभव हो, दूसरों को कोई उपलब्धि हो तो हर्ष होता है जैसे वह उपलब्धि उसे मिली हुई हो, और यदि दूसरों पर कोई कष्ट हो तो उसे वह कष्ट स्वयं पर आया अनुभव हो।

हर व्यक्ति में हर समय उपरोक्त चारों वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं और ये वृत्तियाँ क्षण-क्षण में (कभी कोई वृत्ति और कभी कोई वृत्ति) अपना प्रभाव बनाये रखती हैं। उदाहरणस्वरूप, किसी बहुत उदार व्यक्ति को भी कभी क्रोध आ जाता है। ऐसा पशु वृत्ति के कारण होता है।

भूल तो मनुष्य से होती है और वह इसलिए होती है कि यह जो चार प्रवृत्तियाँ हैं, वो क्षण-क्षण में बुद्धि को प्रभावित करती रहती हैं।

व्यक्ति को अपने विकास करने के लिए अपने कार्य के प्रति अपने प्रत्येक वचन और अपने प्रत्येक विचार के प्रति सावधान रहना चाहिए और यह धारणा रहनी चाहिये कि मैं मानव हूँ, मैं पशु नहीं हूँ, और मैं उपरोक्त निम्न कोटि की प्रवृत्तियों को अपने पास नहीं आने दूँगा क्योंकि मानव में पशुवृत्ति होने से उसका पतन होता है। (शिवदयाल, 2009)

व्यक्ति यदि मानववृत्ति में ही रहे हैं, तो अर्थ है कि वह स्थिति में है और यदि व्यक्ति मानववृत्ति से साधुता वृत्ति की ओर बढ़ता है, तो अर्थ है कि वह मनोविकास कर रहा है। अर्थात्, यदि व्यक्ति अपने को मानववृत्ति से साधुता की ओर उठाते रहने का सतर्कता से निरन्तर अभ्यास करता रहता है, तो साधुता स्वभाव उत्पन्न होता जाता है। मतलब हुआ कि व्यक्ति अपने में मानवता को स्थित तो रखता ही है, और साथ ही मानववृत्ति और मध्यम स्वभाव को उन्नत करता है। (शिवदयाल, 2009)

‘उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादमेत्, आत्मैव हयात्मना बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।’ अर्थात्, मानव अपना उद्धार खुद करता है (अर्थात्, अपने को ऊँचा उठाता है), और मानव खुद ही अपने को नीचे गिराता है। मतलब यह निकला कि व्यक्ति खुद ही अपना मित्र है और खुद ही अपना शत्रु है।

‘बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैववात्मना जितः, अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।’ अर्थात्, वह व्यक्ति खुद का मित्र है जो खुद को ऊपर उठाता है और वही व्यक्ति खुद ही शत्रु होता है जो खुद को नीचे गिरा देता है।

व्यक्ति का स्वभाव धन-संपत्ति आदि भौतिक पदार्थों व इन्द्रियों पर निर्भर नहीं है, बल्कि स्वभाव मनोवृत्तियों से बनता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति बहुत धनवान है और लाखों रुपए प्रतिमाह कमाता है, किन्तु एक समय जब वह किसी दूसरे व्यक्ति को 10 रुपए से सहायता करता है तो इस पर उसकी पत्नी गुस्सा करती है। अर्थात्, उस महिला का स्वभाव है कि वह दूसरों को खाते-पीते व कष्टमुक्त नहीं देख सकती। दूसरा उदाहरण है:- एक ऐसी महिला है जो अपने पुत्र के लिए जब कोई अच्छी चीज बनाती है, तो वह पुत्र को अपने किसी मित्र को भी वह अच्छी वस्तु खिलाने के लिये कहती है। वह ऐसा इसलिये करती है क्योंकि उसे दूसरे को खिलाकर अधिक प्रसन्नता होती है; अपने पुत्र को खिलाकर तो सभी प्रसन्न होते हैं। (शिवदयाल, 2009)

सारांशतः, मनुष्य वही है जो उसका स्वभाव है और व्यक्ति का विकास उसके मनोविकास पर आधारित है। लेकिन एक बड़े महत्व की बात सदा ध्यान में रखना चाहिए कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और, वह दिनभर दूसरों से संपर्क में रहता है, तो दूसरे क्या कहते हैं, क्या करते हैं वो जाने-अनजाने व्यक्ति को प्रभावित करने की चेष्टा करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का कर्तव्य है कि दूसरों के जो भी सदगुण हमें दिखाई दे, उन्हें ग्रहण करने की वृत्ति रखें। यदि किसी के अच्छे गुण नजर आये, तो रात्रि में सोने के पूर्व चिंतन करना चाहिए कि वो सदगुण खुद में लाने के लिए मैं क्या साधना करूँ, क्या अभ्यास करूँ? निःसन्देह अपने अंदर से खुद उत्तर मिलेगा। सीधी सी बात है कि जैसे हम पुस्तकों से सदगुण को सीखते हैं, उसी तरह दूसरे व्यक्तियों के आचार-व्यवहार और विचारों से भी सदगुण सीखना चाहिए। इसके लिये खुद तोसंकल्प करना ही चाहिए, साथ-साथ भगवान से भी प्रार्थना करनी चाहिए कि वो सदगुण उस दूसरे व्यक्ति में तो बने ही रहें और मुझमें भी आ जायें। इसी प्रकार, हमें दूसरों के अवगुण से अपने को सर्तक रखना होना जो उन व्यक्तियों के संग रहने से या उनके वातावरण में रहने से अपने में आ सकने की संभवना रखते हों। दूसरों के सदगुणों प्रति उसकी प्रशंसा भी करनी चाहिए, लेकिन ध्यान रखें कि किसी के अवगुण की निंदा करें क्योंकि निंदा से तो बैर और द्वेष हो जाएगा और फिर दूसरों को सुधारने का न तो हमें अधिकार है और न ही सामर्थ्य है। ऐसी दशा में उपयुक्त होगा कि हम भगवान से प्रार्थना करें कि उसके दोष दूर हो और वह उस अवगुण से मुक्त होने की सदबुद्धि उस दूसरे व्यक्ति को दें, ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दें जिससे उस दूसरे व्यक्ति का कल्याण हो। यह भी प्रार्थना करनी चाहिए कि मुझमें वह अवगुण नहीं आये। (शिवदयाल, 2009)

प्रश्न है कि स्वभाव कैसे बनता है?

स्वभाव बनाने में माता-पिता आदि परिवार के सदस्य बहुत प्रभाव डालते हैं। बचपन में बच्चे अपने माता-पिता के साथ रहते हैं और माता-पिता के उस स्वभाव का; जो उनके कहने, करने,

विचारों आदि से बनता है; प्रभाव बच्चे पर पड़ता है और साथ ही साथ माता-पिता के वातावरण का भी प्रभाव बच्चे पर पड़ता है। उसी प्रकार विद्यालय के वातावरण का; व शिक्षक के कर्म, वचन और विचारों का प्रभाव बच्चे पर पड़ता है। और इस प्रकार बच्चे का स्वभाव अपने माता-पिता के, अपने शिक्षकों के, तथा सहपाठियों के कर्म, विचार और वचन जैसा बनता है। स्वभाव एक दिन में नहीं बनता है, और एक वर्ष में भी नहीं बनता है। स्वभाव का प्रतिदिन निर्माण होता है। व्यक्तियों का स्वभाव उनके बाल्यावस्था से बनना शुरू होता है और जब किशोर अवस्था में पहुंचते हैं; (अर्थात्, 17 वर्ष की आयु पूर्ण करते हैं); तब तक उसके स्वभाव का गठन सार्थकरूप से हो जाता है।

व्यक्तित्व विकास

व्यक्तित्व विकास के चार अंग हैं:- बौद्धिक विकास, शारीरिक विकास, आध्यात्मिक विकास, और मनोविकास। इन चारों तरह के विकास के लिए, उन चारों तरह के विकास के सिद्धांतों का ज्ञान होना, प्रत्येक प्रकार के विकास का मूल आधार होता है। इसलिये उन सिद्धांतों को बच्चों का जीवन दर्शन बनाना, उनके जीवन में चरितार्थ करने का संकल्प कराना ही विकास का पहला कदम है। यदि इन चारों तरह के विकास के सिद्धान्तों का अभ्यास और साधना से कराया जाता है, तो बच्चों के समग्र मानवीय विकास में प्रगति होती है और प्रगति होते-होते सिद्धि होती है। अतः पहले सिद्धांत, फिर संकल्प, फिर साधना, और तब सिद्धि- तब कहीं विकास होता है। (शिवदयाल, 2009)

पवित्रता

पवित्रता/स्वच्छता में बाहर की स्वच्छता और शरीर के अन्तर्निहित तत्वों (मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, स्वभाव आदि) की भी पवित्रता निहित है। चूंकि पवित्रता/स्वच्छता का स्वभाव दैवी व श्रेष्ठ होता है, इसलिये जिसका स्वभाव स्वच्छता का बन जाता है फिर उसे बाहर की गंदगी भी सहन नहीं होती है। (शिवदयाल, 2009)

मन की स्वच्छता हेतु यह निश्चित किया जाता है कि मन में कुविचार न हो, शुभ संकल्प करें, शुभ दृश्य ही देखें लगे, गंदे/अश्लील दृश्य से दूर रहें, कानों को शुभ शब्द ही अच्छे लगे, और अपशब्द न बोलें। (शिवदयाल, 2009)

सरलता

सरलता स्वभाव का सर्वप्रथम और सर्वप्रधान गुण है। सरलता का मतलब है कि जो मन में हो, वही जाहिर हो, अर्थात् बात बनाकर नहीं कहना, बात से धोखा नहीं दो, बात से किसी को पथभ्रष्ट नहीं करना, अपने स्वार्थ के लिए अनुचित बात /कार्य नहीं करना, और वाणी मधुर व

प्रिय हो। कर्तव्य पालन पश्चात् जो कुछ भी मिले, उसमें संतोष करना स्वभाव की सरलता है। (शिवदयाल, 2009)

संतोष

संतोष मानव का बहुत ही महत्वपूर्ण मनोभाव और मानसिक दृष्टि है। वस्तुओं की प्राप्ति या अप्राप्ति में व्यक्ति चाहे तो अपने आप को सुखी कर ले और चाहे तो दुखी कर ले। संतोष करेगा, तो खुद को सुखी रखेगा। (शिवदयाल, 2009)

सहनशीलता

सरल स्वभाव का तीसरा मुख्य अंग है, सहनशीलता। अर्थात्, दूसरों द्वारा निंदित होने, अपमानित होने पर भी उसको सहन करना है और साथ-ही-साथ अपने दोष को दूर करने का संकल्प लेकर दूर करने का प्रयास करना है। ज्ञातव्य है कि अपने अवगुण को सुनने और उसका विश्लेषण करने से स्वयं का मनोविकास होता है। (शिवदयाल, 2009)

उदारता

उदारता के लिए तीन प्रमुख बातें होनी चाहिए: दूसरों को ठीक तरह से समझना, अंगीकार करना तथा समायोजन करना।

दूसरों को ठीक तरह से समझना में निहित है कि दूसरों के गुण देखकर खुशी होना, दूसरे के गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना, दूसरों में अवगुण नहीं खोजें, हमेशा दूसरे लोगों का और उनके विचारों का सकारात्मक विवेचन करना आदि हैं। (शिवदयाल, 2009)

लगभग हर मनुष्य में कोई-न-कोई अवगुण होता है क्योंकि मनुष्य की बुद्धि, परिस्थिति और संस्कार अलग-अलग होते हैं और हर व्यक्ति की अपनी सीमाएं होती हैं। जब ऐसा है, तो लाजमी हैं कि किसी के प्रति क्रोध या वैर भाव या घृणा नहीं होनी चाहिए; हालांकि अपनी दो तरह की प्रतिक्रियाएं होनी चाहिए। पहली अपेक्षित प्रतिक्रिया है कि दूसरे के दोष को कभी तीसरे व्यक्ति के सामने चर्चा नहीं करें, दूसरे का अपमान नहीं करें। हमेशा अकेले में और ढंग से दूसरे को समझना चाहिए। किसी में दोष देखने की सबसे पहली हानि यह है कि वह दोष अपने में स्वतः ही आ जाता है। इसलिए, कभी भी किसी दूसरे के दोष न खोजे, दूसरे के दोष का बखान न करें, दूसरे के दोष की निंदा न करें, तथा दूसरे में दोष होने के कारण उसका अपमान नहीं करें। दूसरी अपेक्षित प्रतिक्रिया है कि ईश्वर से प्रार्थना करें कि ईश्वर उस दूसरे व्यक्ति के दोष दूर कर दें, व उसे सदबुद्धि दें। (शिवदयाल, 2009)

अंगीकार करना, यानी, अडैप्ट करना, यानी अपने व्यवहार में परिवर्तन करना, यदि ऐसा करने से आपका जीवन-दर्शन प्रभावित नहीं होता हो। (शिवदयाल, 2009)

समायोजन करने से आशय है कि हमें दूसरों के रहन-सहन में स्वयं को समायोजित करने की आदत होना चाहिए। दूसरे के उचित कार्यों का हमें आदर करना चाहिए। (शिवदयाल, 2009)

सारांश में, यह उपयुक्त है कि दूसरे को भलीभांति समझना, अपने व्यवहार में परिवर्तन करना, और दूसरों के व्यवहार के साथ समायोजन करना, उदार व्यक्ति के लिए आवश्यक होती हैं। (शिवदयाल, 2009)

सदाचार

हम लोगों को तथा शिक्षकों बड़े-बूढ़ों, माता-पिता को प्रणाम करना चाहिये क्योंकि चार गुण बढ़ते हैं: आयु, विद्या, यश और बल। (शिवदयाल, 2009)

सदाचार नियम

महर्षि पतंजलि ने सदाचार के पांच प्रधान नियम बताये हैं:—1. शौच, 2. संतोष, 3. तप, 4. स्वध्याय, तथा 5. ईश्वर प्राणिधान।

शौच

अर्थात्, स्वच्छता। स्वच्छता में बाहर की स्वच्छता और शरीर के अन्तर्निहत तत्त्वों (मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, स्वभाव आदि) की भी पवित्रता निहित है। चूँकि पवित्रता/स्वच्छता का स्वभाव दैवी व श्रेष्ठ होता है, इसलिये जिसका स्वभाव स्वच्छता का बन जाता है फिर उसे बाहर की गंदगी भी सहन नहीं होती है। (शिवदयाल, 2009)

संतोष मानव का बहुत ही महत्वपूर्ण मनोभाव और मानसिक दृष्टि है। वस्तुओं की प्राप्ति या अप्राप्ति में व्यक्ति चाहे तो अपने आप को सुखी कर ले और चाहे तो दुखी कर ले। संतोष करेगा, तो खुद को सुखी रखेगा। (शिवदयाल, 2009)

विचार करते हैं किसंतोष क्यों करें?

उत्तर के दो पहलू हैं:— 1. परमार्थी पक्ष और 2. व्यवहारिक पक्ष।

ईश्वर न्यायशील, दयावान तथा मंगलकारक है। ईश्वर किसी को व्यक्ति की योग्यता अथवा पात्रता से कम नहीं देता, वही देता है जो उसे मिलना चाहिए क्योंकि ईश्वरीय कानून पूर्ण न्याय पर आधारित है। दया में मानव धर्म है संतोष करना। व्यवहारिक पहलू सम्बन्धी उत्तर यह है कि व्यक्ति कर्म करने में तो स्वतंत्र है किंतु उसके द्वारा किये गये कर्म का फल उसके नियंत्रण में नहीं है; अर्थात्, वह स्वतंत्र नहीं है। कर्मफल जगत के हाथ में है; दूसरे हमारे कर्म का आकलन करते हैं।

तप, सदाचार का यह तीसरा नियम है। तप से तात्पर्य है कि हर व्यक्ति उसके नियत कर्म को पूरी योग्यता, पूरे सामर्थ्य से, कुशलता पूर्वक और उत्कर्ष के साथ, रूचि के साथ तथा परिश्रम से करे।

तप तीन प्रकार का होता है:—शारीरिक तप, वाचिक तप तथा मानस तप।

ब्रह्मचर्य का पालन करना; अहिंसा का पालन करना— देव, ईश्वर, गुरु व बुद्धिमान का पूजन करना; पवित्र रहना; मन—तन—वस्त्र—स्थानादि को शुद्ध रखना; सरल स्वभाव रखना आदि ये शारीरिक तप कहलाते हैं।

वाचिक तप से तात्पर्य है कि ऐसे बोलें जिससे मन व्याकुल नहीं हो, जो सच्चा हो, जो प्रिय हो, व जो हितकर हो, इनके अतिरिक्त स्वाध्याय करना, तथा उत्तम ग्रन्थों का पाठ करना— ये वाचिक तप कहलाते हैं।

मानस तप से आशय है कि मन प्रसन्न, मुखमंडल सौम्य, मौन, आत्मा की ओर ध्यान भावों की शुद्धि करना, विचारों में पवित्रता तथा स्वभाव निर्मल हो।

उपर्युक्त शारीरिक, वाचिक और मानसिक, तीनों प्रकार के, तप करना मानव धर्म है।

धर्म

धर्म शब्द को अनेक अर्थों में व्यक्त किया जाता है; जैसे, सांप्रदायिक धर्म, नियत कर्म, और मानव धर्म। (शिवदयाल, 2009)

सांप्रदायिक धर्म में हिंदू, सिख, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुस्लिम इत्यादि धर्म आते हैं। इन सांप्रदायिक धर्मों में ईश्वर के प्रति अपनी—अपनी मान्यताएं होती हैं। इन सांप्रदायिक धर्मों की जगत, जीवन तथा ईश्वर के संबंध में विभिन्न विचारधाराएं होती हैं। इन सांप्रदायिक धर्मों में आत्मा, आनंद, मन, शांति, मुक्ति, भुक्ति और भक्ति के संबंध में अलग—अलग दर्शन व आदर्श हैं। फिर भी सभी धर्मों में मौलिक समानताएं और समन्वय देखा जाता है।

कुछ दार्शनिक विचारधारायें नियत कर्म को भी धर्म के अर्थ में प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि मनुष्य को नियत कर्म करना चाहिये क्योंकि ऐसा करना धर्म है।

मानव धर्म में अग्रवर्णित तीन हैं:— 1. सदाचार, 2. सद्व्यवहार और 3. सेवा करना।

यहाँ पूर्व में जैसा विवेचन किया जा चुका है कि मानव धर्म के पाँच अंग हैं— सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह।

इन सभी धर्मों के संबंध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन सभी का लोग सामान्यतः तीन विभिन्न अर्थों में प्रयोग करते हैं और ये तीन अर्थ हैं—1. सिद्धांत संबंधी, 2. स्वार्थ संबंधी, और 3. विधि संबंधी अर्थ। किंतु इन तीन अर्थों से भी श्रेष्ठ अर्थ होता है और उसको कहते हैं:— मानव

का निश्चय और दृढ़ संकल्प और वस्तुतः इसी को मानव धर्म कहना चाहिए। (शिवदयाल, 2009)

सिद्धांतरूप में अर्थ निकालना:— असत्य बोलना यदि एक दोष घोषित है, तो असत्य बोलना, धर्म का सैद्धान्तिकरूप हुआ।

स्वार्थरूप में अर्थ निकालना:—*मुझसे* कोई असत्य न बोले। अर्थात्, लोग अपने स्वार्थ की नजर से धर्म को बना लें।

विधिरूप में अर्थ निकाला जाता है कि यदि कोई व्यक्ति दूसरे से असत्य बोलेगा तो उसे दंड दिया जाएगा।

जबकि मानव-धर्मरूप में अर्थ निकालना:—*मेरा निश्चय और दृढ़ संकल्प है कि मैं किसी के साथ छल कपट नहीं करूँगा*, भले ही दूसरे किया करें। इस प्रकार ऐसा निश्चय करना और दृढ़ संकल्प करना ही मानव धर्म है। इसके लिए प्रत्येक मानव स्वतंत्र है और इस स्वतंत्रता की रक्षा करना उसका गौरव है।

सत्य

सत्य को परम धर्म कहा गया है। तुलसीदास ने लिखा है—*‘धर्म न दूसर सत्य समाना / आगम निगम पुरान बखाना //’* सत्य में सरलता होती है।

सेवा

तुलसीदास की रामचरित मानस कहती है: *‘परहित सरिस धर्म नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहीं अधमाई, परहित बस जिन्ह के मन माहीं, तिन कहुं जग दुर्लभ कछु नाहीं।’*

परोपकार से धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष यह चारों प्राप्त किये जाते हैं। परोपकार करना संतो का स्वभाव होता है। जिनका उद्देश्य दूसरों का हित करना होता है, ऐसे व्यक्ति संसार की सभी वस्तुयें प्राप्त कर लेते हैं।

सेवा सबसे बड़ा व महत्व का धर्म है। सेवा तन से, मन से (यानी लव करना) तथा धन (दान करना) से होती है।

तन से सेवा का उदाहरण है: कोई व्यक्ति किसी शारीरिक कर्म को करने का प्रयास कर रहा हो, परंतु शारीरिक दुर्बलता के कारण काम नहीं कर पा रहा हो, तो ऐसी दशा में उस शारीरिकरूप से दुर्बल व्यक्ति को अपने शरीर से सहारा देना या अपनी शारीरिक शक्ति से सहयोग देना तन से की सेवा हुई। किसी ज्वर पीड़ित पर उस पर ठंडे पानी की पट्टी रखना; किसी अंधे को सुरक्षित सड़क पार करा देना— ये तन से सेवा के उदाहरण हैं। उस बच्चे का/व्यक्ति का जीवन धन्य है जो तन से सेवा कर, दूसरों को व निर्धनों को सुख-सुविधा पहुँचाता है।

धन से सेवा के उदाहरण हैं: बाढ़, सूखा, भूकंप आदि से पीड़ित व्यक्तियों के लिए धन दान देना।

दूसरों की सेवा करने के धर्म के बारे में भी यही नियम है कि निश्चय और संकल्प करके सेवा कर सर्वोच्च मानव-धर्म निभाया जाता है, किन्तु स्वार्थ भाव से यह नहीं सोचें कि आपकी कोई सेवा करे, न सिद्धांत रूप मात्र में यह सोचना की सेवा करना अच्छा है और न ही विधि की बाध्यता के कारण सेवा करना (अर्थात्, यह सोचकर सेवा करना कि जो सेवा नहीं करेगा उस को दंडित किया जाएगा)।

मन से सेवा का अर्थ है: दुःखी प्राणी का दुःख दूर हो, इसके लिए मन से कामना करना, व प्रभु से प्रार्थना करना मन से सेवा करना है। जो दुःखी को देखकर करुणामय हो जाते हैं, उनके हृदय में ईश्वर निवास करते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति दूसरे को सुखी देखकर प्रसन्न होता है, उसके हृदय में भी ईश्वर का वास होता है। 'परोपकाराय सका विभूतयः।' अर्थात्, निष्काम सेवा परोपकार ही नहीं अपितु अपने स्वयं के ऊपर भी उपकार है। उदाहरण बतौर:- ऋण चुकाना परोपकार नहीं है, अपितु स्वयं की सेवा करना है, स्वयं के ऊपर उपकार करना है व अपने ऊपर से भार उतारना है। 'यस्तु परोपकारी।' अर्थात्, जीवन उसका धन्य है जो परोपकारी है। अर्थात्, जो व्यक्ति दूसरों के प्रति उपकार करता है/ सेवा करता है, उसका जीवन सराहनीय है। दूसरों के साथ उपकार करना पुण्य है और दूसरों को दुःख देना पाप है; इसे समस्त पुराणों का सार कहा गया है। (शिवदयाल, 2009)

अहिंसा परमो धर्मः—अहिंसा को परम धर्म कहा गया है, अर्थात् किसी को दुःख मत दो। वहीं, 'पुण्य परोपकाराय' को सार्वभौम महाव्रत बतलाया गया है— अर्थात्, बने तो शुभ, अर्थात् सामर्थ्य के अनुसार दूसरों को सुख पहुँचाओ, यह परोपकार है। (शिवदयाल, 2009)

'परोपकाराय सतां विभूतयः'—यानी, महान वह है जिसकी विभूतियां, शक्तियां, और संपदायें दूसरों को सुख देने के लिए ही हैं। परोपकार सूर्य, नदियाँ, वृक्ष जल, और वायु करते हैं। सूर्य दूसरों को प्रकाश देता है, नदियाँ दूसरों को सुख देती हैं, वृक्ष दूसरों को फल देता है, पानी बरस कर सबको जीवनदान है, और वायु दूसरों के जीवन के लिए बहती है। (शिवदयाल, 2009)

वास्तव में, सत्य तो यह ही है कि मनुष्य का जन्म दूसरों को सुख देने के लिए ही हुआ है। निगम तर्क करें या आगमरूप विचार करें, निष्कर्ष यह है कि प्राणी—मात्र के अन्दर अदृश्यरूप में ईश्वर रहता है। ऐसा ही मद्भागवत गीता कहती है— *'ईश्वरः सर्वभूतानां हृदये अर्जुन तिष्ठति।'* सभी मानवमात्र व अन्य प्राणीमात्र परमात्मा की संतान हैं, व सबके अन्दर एक ही विश्वात्मा मौजूद है। अतः, जो व्यक्ति अन्य प्राणीमात्र को अपनी आत्मा के समान देखता है, उनके सुख में स्वयं सुखी होता है, दूसरों के दुःख में स्वयं दुःख का अनुभव करता है, किसी को दुःख नहीं देता, सामर्थ्य के अनुसार सबको सुख देता है, और सबकी सेवा करता है—वही व्यक्ति

मानव-धर्म निभाता है। ऐसे व्यक्ति को परमयोगी कहा गया है जो दूसरों के सुख में सुखी होता है और दूसरों के दुःख में दुःखी होता है।

चरित्र

गांधी द्वारा माध्यमिक व उच्च शिक्षा दिये जाने के पूर्व प्रभावशील व जीवनपर्यन्त मानवता बनाये रखने की चरित्र शिक्षा बच्चों को दिये जाने की बात की औचित्यता भारत के ही नहीं विश्वभर के शिक्षक भी समर्थन करते हैं, जैसा कि उदाहरणस्वरूप दिये गये शोध परिणाम जाहिर करते हैं।

(एन.सी.डी.पी.आई., 2006),(काफोर्ड व अन्य, 2006),(जॉनसन, 2015), (लिंगन, 2002), (रेयन व बोलिन,1999), (लिकोना,1991), (एन.जी.सी.ए., 2001) ,(लिकोना, 1991), (शेफर, 2001), (लैप्सले व नरवेज, 2006), (बर्मन, 2000),(वोजक, 2006)व (बुगान्जा, 2012)। इनके बारे में अध्याय-2, साहित्य सर्वेक्षण, में दिया गया है, और यहाँ पुनरावृत्ति अनुज्ञेय न होने के कारण उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास

सुभाष चंद्र बोस ने कहा कि शिक्षा का उद्देश्य है मनुष्य को दक्ष बनाना और उसकी विवेक शक्ति को विकसित करना। यदि यह दोनों उद्देश्य पूर्ण हो जाते हैं, तो यह मानना चाहिए कि शिक्षा का लक्ष्य पूरा हो गया है। यदि कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति चरित्रवान नहीं हो, तो क्या मैं उसे पंडित कहूँगा? कभी नहीं। वह पंडित कहलाने लायक नहीं है। किन्तु यदि एक अनपढ़ व्यक्ति ईमानदारी से काम करता है, ईश्वर में विश्वास रखता है और उससे प्रेम करता है तो मैं उसे महापंडित मानने को तैयार हूँ। व्यक्ति कुछ बातें रट-रटा कर ही विद्वान नहीं बनता। यदि कोई शिक्षा प्रणाली भारतीय परिस्थितियों, भारतीय आवश्यकताओं और भारतीय इतिहास तथा सामाजिकता की उपेक्षा करती है, तो वह इतनी अवैधानिक होगी उसे युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता है। (शिवदयाल, 2009)

गांधी ने लिखना, पढ़ना, हिसाब करना सीखना को सच्ची शिक्षा नहीं माना; विशेषतः सच्ची प्राथमिक शिक्षा नहीं माना। सच्ची प्राथमिक शिक्षा से ही सच्ची उच्च शिक्षा बनती है। सच्ची प्राथमिक शिक्षा वह है जो मुख्यता चरित्र का निर्माण करे, मनुष्यत्व भर दे।(ठक्कर, 2012)

इस प्रकार से गांधी शिक्षा के द्वारा मनुष्य सर्वांगीण विकास (शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक विकास) किये जाने का विचार वर्तमान में पूर्णतः प्रासंगिक है। उनके विचार प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, प्रयोजनवाद, यथार्थवाद, अस्तित्ववाद सभी के शैक्षिक उद्देश्य के भी अनुकूल पाये जाते हैं और वर्तमान में तदनुसार शिक्षा दिये जाने हेतु पूर्णतः प्रासंगिक है। (ठक्कर, 2012)

(ग्रेडोवस्की, 2012),(हिन्चलिफी, 2006), (टकर तथा स्ट्रॉग, 2005), (रिन्ज, 2013),(मेगेन, 2014)तथा(आरवेक व नेसबिट, 2008)ने भी गांधी द्वारा बताई नीति शिक्षा के समर्थन में अपने शोध आधारित मत व्यक्त किये हैं जोकि अध्याय-2 में वर्णित हैं और जिन्हें पुनरावृत्ति न किये जाने के कारण यहाँ उल्लिखित नहीं किया जा रहा है।

उस शिक्षा की सार्वभौमिक आवश्यकता पायी गई है (1) जिससे बच्चों में छिपी हुई, अन्तनिहित, शक्तियों को विकसित किया जा सके; (2) जिससे बच्चे अपने परिवेश व पर्यावरण को समझें और उससे समायोजन करना सीखें; (3) जिससे बच्चे दूसरों को क्षति पहुँचाये बिना जीवकेपार्जन कर सकें; (4) जिससे बच्चे अपनी पूर्व पीढ़ी द्वारा अर्जित ज्ञान, संस्कृति व सभ्यता को संरक्षित व उनमें परिवर्धन कर सकें; (5) जिससे बच्चे मानव जीवन व जगत संचालक अदृश्य शक्ति को समझ सकें और उसका आदर करें। मत-वैभिन्नता की स्थिति में सर्व-स्वीकार्य 'सत्य' को ही जगत का अदृश्यसंचालक; (जिस प्रकार एक घर-परिवार के समस्त सदस्यों के हितकारक मुखिया को घर के सभी लोग मानकर परिवार में रहते हैं); मान सकते हैं। (6) जिससे बच्चे मानव जीवन के अर्थ व उद्देश्य को समझकर प्राप्त करने के लिये जीना सीखें; (7) जिससे बच्चे बड़े होकर भी दूसरों से प्रेम व समरस व्यवहार करते रहें, दूसरों को अपना ही समझते रहें, दूसरों को क्षति पहुँचाने से वंचित रहते रहें; (8) जिससे बच्चे विश्व के लिये देश का, देश के लिये नगर/कस्बे/गाँव का, और नगर आदि के लिये परिवार का, और परिवार के लिये स्वयं का मोह न रखना और त्याग करना सीखें। (ठक्कर, 2012)

'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना।' गांधी स्वतंत्रता के बाद ऐसा दर्शन / ऐसी स्थिति चाहते थे। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति में/ से निम्न अपेक्षा करना निहित है:- जो उसका नियत कर्म है, उसकी विद्या का ज्ञान हो; प्रत्येक व्यक्ति को शरीर-विज्ञान की जानकारी हो; प्रत्येक व्यक्ति उच्च विचारों से संपन्न हो; प्रत्येक व्यक्ति को मौलिक तत्वबोध हो; प्रत्येक व्यक्ति अपने नियत कर्म में निपुण हो (अर्थात्, जो भी उसका नियत कर्म है वह उसे उत्कर्ष तथा कुशलता से करे); प्रत्येक व्यक्ति सत्य-निष्ठा का धनी हो (अर्थात्, वह आत्मविश्वासी हो और अन्तः-प्रशांति व बाह्य शांति से संपन्न हो); और प्रत्येक व्यक्ति चरित्रवान हो (अर्थात्, उसके आचार, विचार और व्यवहार खुद के लिए और सभी के लिए कल्याणकारी हों)। (शिवदयाल, 2009)

गांधी मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति में उसकी खुद की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की इच्छा होती है, और उसका परिवार व वृहद समाज प्रत्येक व्यक्ति से कुछ अपेक्षाएँ रखते हैं। ये अपेक्षाएँ क्रमशः हैं :- सुख, शांति, आनंद; सहयोग, स्नेही, सत्संग; सत्यम, प्रियं, हितं, दक्षता, सत्यनिष्ठा, श्रमशीलता। इन इच्छाओं व अपेक्षाओं को तब ही पूरा किया जा सकता है, जब नीति का पालन हो। (शिवदयाल, 2009)

उपरोक्त दक्षता, सत्यनिष्ठा और श्रमशीलता से तात्पर्य है कि प्रत्येक प्रोफेशनल में (चाहे डॉक्टर हो, न्यायाधीश हो, शिक्षक हो या विद्यार्थी हो), प्रत्येक व्यवसायी में, और प्रत्येक कार्य क्षेत्र में प्रत्येक देशवासी में अपने-अपने नियत कर्म में बौद्धिक क्षमता, दक्षता, मानसिक सत्यनिष्ठा हो और शारीरिक क्षमता हो (अर्थात्, श्रमशीलता हो)। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह धर्म है कि उसका जो भी नियत कर्म हो उसे वह अपनी पूर्णता से करे, सत्य निष्ठा से करे, पूरी सामर्थ्य शक्ति और समय लगा कर करे। ज्ञातव्य है कि दक्षता, सत्यनिष्ठा और श्रमशीलता, इन तीन गुणों के आधार पर ही जापान व सिंगापुर ने बहुत कम समय में उत्कर्ष (एक्सीलेंस) प्राप्त कर लिया। वहाँ की प्राथमिक से लेकर उच्चतर कक्षाओं में विद्यार्थियों के सामने उत्कर्ष शब्द दिनभर लिखा हुआ दिखता है, उनकी नस-नस में उत्कर्ष (एक्सीलेंस), ईमानदारी और परिश्रम कूट-कूट कर भर जाता है। (शिवदयाल, 2009)

उपरोक्त सत्यम, प्रियं, व हित से तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार, संबंध और वार्तालाप में सत्य हो व छल-कपट विमुक्त हो, प्रियता हो, परपीड़ा हो, परनिंदारहित हो, परहितभावयुक्त हो (अर्थात्, द्वेष, ईर्ष्या, पक्षपात, या शोषण न हो)। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस धर्म का पालन करे, तो किसी कानून की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। (शिवदयाल, 2009)

उपरोक्त इच्छाओं व अपेक्षाओं की पूर्ति तब ही पूरी की जा सकती है, जब व्यक्तियोंद्वारा नीति का पालन हो, अर्थात्, प्रत्येक व्यक्ति निम्न धर्मों का अनुपालन करे:- सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनको पतंजलि ने यमरूप में व्यक्त किया है। स्पष्ट है कि इसके विपरीत, असत्य, हिंसा, चोरी, दुराचार और अपरिग्रह कर्म हैं जिनके लिए वर्तमान में इन्डियन पेनल कोड और अन्य क्रिमिनल लॉ में दंड देने के प्रावधान हैं। उपर्युक्त पाँचों धर्म नैसर्गिक हैं, व्यवहारिक हैं, और स्वाभाविक हैं। (शिवदयाल, 2009)

उपरोक्त इच्छाओं व अपेक्षाओं की पूर्ति होने पर ही व्यक्तियों का सर्वांगीण विकास सम्भव है, और यही, व्यक्तियों का सर्वांगीण विकास, गांधी चाहते थे। (शिवदयाल, 2009)

उपरोक्त इच्छाओं व अपेक्षाओं की पूर्ति करने के लिये, उपरोक्त धर्मों का अनुपालन करने के लिये तथा उनके द्वारा व्यक्तियों का सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास (यानी, चरित्र निर्माण) होने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति उसका बौद्धिक-विकास करे; स्वयं विद्या अर्जन करे; शरीर-विज्ञान को ध्यान में रखकर स्वास्थ्य की रक्षा करे; स्वभाव को नीतिपरक बनाकर नीतिपरक चरित्र आचार, विचार और व्यवहार का निर्माण करे; तथा मौलिक तत्वबोध आधारित आध्यात्मिक विकास करे। (शिवदयाल, 2009)

व्यक्तित्व विकास के चार अंग हैं:- बौद्धिक विकास, शारीरिक विकास, आध्यात्मिक विकास, और मनोविकास। प्रत्येक अंग के विकास के लिए उसके सिद्धांत का ज्ञान होना मूल आधार होता है। फिर, उन सिद्धांतों को अपना जीवन दर्शन बनाना, अपने जीवन में उनको चरितार्थ करने का संकल्प करना विकास का आरंभ है। उसके अभ्यास और साधना से विकास में प्रगति होती है

और प्रगति होते-होते सिद्धि होती है। अतः पहले सिद्धांत, फिर संकल्प, फिर साधना, और तब सिद्धि— तब विकास होता है । (शिवदयाल, 2009)

बौद्धिक विकास का अर्थ है, बुद्धि की विश्लेषण शक्ति, विवेक शक्ति और स्मरण शक्ति का निरंतर अभ्यास करके विकास करना जिससे स्वभाव विश्लेषणात्मक बनता है, विचार और वाणी स्पष्ट व विश्लेषणात्मक होते हैं, विद्या अर्जन में सुगमता—रुचि व आंतरिक सुख का अनुभव होता है । (शिवदयाल, 2009)

शारीरिक विकास से तात्पर्य है, जैसे पुजारी मंदिर को स्वच्छ, सुदृढ़ और सजा कर रखता है, उसी प्रकार अपने शरीर को पवित्र स्वच्छ और सुंदर रखना। क्योंकि शरीर ईश्वर का मंदिर है, इसमें ईश्वर विराजमान है। नियमित आहार, विश्राम और व्यायाम इसकी साधना हैं । (शिवदयाल, 2009)

मानसिक विकास का अर्थ है, नैतिक विकास जो चरित्र निर्माण (सद्विचार, सदाचार और सद्व्यवहार से बनता है । (शिवदयाल, 2009)

आध्यात्मिक विकास का अर्थ है, समस्त सत्ता के तीनों तत्व— जगदीश, जीवन और जगत का तत्व ज्ञान के साथ—साथ आत्मा और परमात्मा के योग की साधना करना । (शिवदयाल, 2009)

विकसित सर्वांगीण व्यक्तित्व का एक उदाहरण है। राजा भर्तृहरि से उनके गुरु द्वारा दक्षिणा माँगने पर भर्तृहरि ने अपने शरीर और अपने खजाने के सारे-के-सारे जेवरात व जवाहरात इत्यादि, उनको राजा बनाने का राजपत्र, निजी कक्ष की सारी-की-सारी बेशकीमती चीजें व वस्त्र इत्यादि दे दिये। किंतु गुरु ने दक्षिणा को अपर्याप्त बताकर राजा भर्तृहरि से राज्य के बाहर निकल जाने का आदेश दिया और इसका पालन करते हुए राजा राज्य से बाहर जाने लगे। लेकिन, तभी गुरुजी ने राजा भर्तृहरि को जाने के पहले कुछ प्रश्न के उत्तर देने का आदेश दिया। राजा भर्तृहरि द्वारा दिये गये उत्तर निम्न हैं और सभी के लिए बहुत ही अधिक शिक्षाप्रद हैं । (शिवदयाल, 2009)

गुरुदेव ने पूछा कि *अब तुम्हारे पास क्या हैं?* राजा भर्तृहरि ने कहा कि मेरे पास मेरी निम्न योग्यतायें हैं:—

1. बौद्धिक मनीषा है, 2. सत्यनिष्ठा है, 3. श्रमशीलता है, 4. शरीर—विज्ञान ज्ञान है, 5. तत्व—ज्ञान है, 6. आध्यात्मिक—साधना है, 7. सात्विक—स्वभाव है, तथा 8. सच्चरित्रता है।

और इन योग्यताओं के आधार पर मैं समस्त वैभव, समृद्धि, सुख—सुविधाएं जब चाहूँ तब प्राप्त कर सकता हूँ । (शिवदयाल, 2009)

गुरु ने अगला प्रश्न किया कि यह आठ वस्तुएं जो तुम्हारे पास अभी भी हैं और जिन्हें कोई ले नहीं सकता, वो *कैसे अर्जित कीं?*

राजा भर्तृहरि ने उत्तर दिया:—

1. बौद्धिक मनीषा को विश्लेषण शक्ति के विकास करके, विवेक शक्ति का विकास करके तथा स्मरण शक्ति का विकास करके प्राप्त किया।
2. विद्या प्राप्ति की विषय-वस्तु/विचार आदि को पूर्णतया समझकर, आत्मसात करके व अभ्यास करके।
3. शारीरिक क्षमता को शरीर-विज्ञान, पोषक व नाशक पदार्थ के ज्ञान से प्राप्त किया।
4. श्रमशीलता को व्यायाम, आहार और विश्राम से प्राप्त किया।
5. तत्त्वज्ञान के तीन अंग जगदीश, जीव और जगत को जप, ध्यान, और प्रार्थना की साधनाओं से प्राप्त किया।
6. नैतिक विकास को पवित्रता, विनम्रता और सरलता के द्वारा प्राप्त किया।
7. चरित्र-निर्माण को सदाचार, सद्व्यवहार और सेवा करने से बनाया (शिवदयाल, 2009)

गुरु ने तीसरा प्रश्न राजा भर्तृहरि से किया कि यह सब चीजें कब सीखें और किससे सीखें? राजा भर्तृहरि ने उत्तर दिया:—गुरु से प्राप्त ज्ञान और जीवन में उनको चरितार्थ-पुष्टि-लगातार अभ्यास करके उनको सीखा और यह सब मैंने 6 वर्ष से 17 वर्ष की आयु में सीखे थे। (शिवदयाल, 2009)

स्पष्ट है कि राजा भर्तृहरि ने अपना मूर्तिमान विकसित सर्वांगीण व्यक्तित्व, दक्षता, सत्यनिष्ठा, क्षमता, सुस्वास्थ्य, तत्वबोध, साधना, सत्स्वभाव और सच्चरित्रता से प्राप्त किया था। (शिवदयाल, 2009)

राजा भर्तृहरि द्वारा वर्णित उपरोक्त मानव मूल्यों से संपन्न विद्यार्थी आगे चलकर चाहे जो बनें (डॉक्टर बने, न्यायाधीश बने, इंजीनियर बने, राजनेता बने, उद्योगपति बने, या, व्यवसायी बने), किंतु वह सत्यनिष्ठ होंगे, अपने कार्यक्षेत्र में दक्ष होंगे, उनमें श्रमशीलता होगी, उत्कर्ष की अभीप्सा होगी, सदाचारी होंगे, और सद्व्यवहार से लोकप्रिय होंगे। सुख-समृद्धि और कीर्ति उनके पीछे-पीछे चलेगी, वह मानसिक शांति के धनी होंगे, और उनमें आत्मिक आनंद की सतत अनुभूति रहेगी। (शिवदयाल, 2009)

मानव मूल्यों का विकास न भाषणों से हो सकता है, और न कानूनों से हो सकता है। मानव मूल्यों का विकास शिक्षा से ही हो सकता है। विकास काल 6 वर्ष से 17 वर्ष की आयु में बालक-बालिका कक्षा 1 से 12 तक विद्यालय में होते हैं और यदि उपर्युक्त मानव मूल्यों का विकास इस अवधि में नहीं हुआ तो शिक्षा अधूरी है। (शिवदयाल, 2009)

विद्यालय या महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में अर्जित की हुई विद्वता शिक्षा का एक अंग अवश्य है, किंतु विद्वता की पूर्ण शिक्षा नहीं है। कतिपय विषयों में विद्या-अर्जन करना, शिक्षा का एक अंग अवश्य है, किंतु वह पूर्ण शिक्षा नहीं है। (ठक्कर, 2012)

पूर्ण शिक्षा वह है जो मानव की अंतर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करें। पूर्णता का अर्थ है: बौद्धिक, शारीरिक, आध्यात्मिक और मानसिक शक्तियों का संवर्धन और उनका सदुपयोग करना। विद्या और मानव मूल्यों का विकास दोनों मिलकर शिक्षा होती है। (शिवदयाल, 2009)

प्राचीन भारतीय संस्कृति में व्यक्ति के समग्र विकास के लिए धर्म आधार था, किंतु आज धर्म के अर्थ का अनर्थ होता है। आधुनिक शिक्षा पद्धति में धर्म का आधार तो हट गया, किंतु उसके स्थान पर उतने सार्थक या प्रभावशाली आधार नहीं अपनाए गए। अतः शिक्षा में संकीर्णता पाई जाती है। (शिवदयाल, 2009)

महात्मा गांधी ने 1937 में मूल्यों की शिक्षा (वैल्यू एजुकेशन) की अनिवार्यता घोषित करके एक योजना प्रदान की थी। देश के स्वतंत्र होने पर समय-समय पर इसके लिए कमीशन बने, उनकी रिपोर्टें आईं, विचार-विमर्श हुए, कभी किसी रूप में और कभी किसी दूसरे रूप में उनको वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सम्मिलित करने का प्रयास किया गया। किंतु सर्वांगीण विकास की योजना कभी नहीं बनी। (शिवदयाल, 2009)

मानव भी एक पशु है। किन्तु मानव का सृष्टि में विशेष महत्व है। महत्व इसलिये है कि इसको प्रकृति ने अनूठे व अद्वितीय मस्तिष्क दिया है। इस विशेष अद्वितीय और सृष्टि में सबसे अधिक शक्तिशाली मस्तिष्क की विद्यमानता के कारण ही मानव पशु न कहला कर मानव कहलाया गया। (ठक्कर, 2012)

मानव का मानव बना रहना सर्वोचित है। सभी यही प्रयत्न करते हैं, यह सर्वविदित है, अलग से इसके लिये प्रमाणन का आवश्यकतानहीं है। मानव भी इसमें प्रयत्नशील रहता चला आ रहा है। परिणामतः मानव पाषाण युग से लौह युग आदि व्यतीत कर वर्तमान उन्नत अवस्था में है। यह प्रयत्न अभी भी हो रहे हैं। इन प्रयत्न का अर्थ है, मनुष्य पशुओं की भाँति स्वार्थपरता, हिंसा, बर्बरता, असमानता आदि आचरण न करे बल्कि मानव को मस्तिष्क रूपी प्राप्त अनुपम शक्ति का समुचित ज्ञान व विवेक से; स्वयं को उत्तेजित, बहकाने, लुभावने व आसक्ति बनाने वाली पशुओकी भाँति मानव में विद्यमान इन्द्रियों से स्वयं को निग्रह रखकर; मानव का अस्तित्व बनाये रखे। निःसंदेह, मानव का परमधर्म है, आदर करना व सत्ता स्वीकार करना उसकी जिसने मस्तिष्क रूपी अनुपम देन दी है, और मानवता का संरक्षण करना। निःसंदेह, इस हेतु उसे हमेशा ध्यान रखना होगा कि उसे पशुत्व की विशेषताओं (जैसे, अज्ञानता, अविवेक, स्वार्थपरता, अकर्मण्यता, स्वयं का पोषण अन्य का शोषण करके, बर्बरता, हिंसा, असमानता आदि) को जन्म लेने के साथ ही प्रयत्न करना शुरू करे कि शरीर (जिसे एक खेत की भाँति क्षेत्र की संज्ञा भी जा सकती है) में व्याप्त सूक्ष्मतत्व, मानसिक अभिलाषाओं व इन्द्रियों पर नियन्त्रण रख (इन्द्रियों से निग्रह की अवस्था) उनके विषयों के भोग में न लगे। यदि इसमें चूक हो गयी, तो बुराई या पशुत्व का प्रवेश हो जायेगा, और मानव, मानव की विशेषताओं से परे होकर, पशुत्व की विशेषताओं को ग्रहण कर लेगा (जिनको दूर करने में मानव को युगों प्रयत्न करना पड़ता है)।

साथ ही चूँकि बच्चे को पशुत्व के व्यवहारों व इन्द्रिय नियन्त्रण आदि का ज्ञान जन्म के समय प्रकट नहीं होता, इसलिये उसकी अबोध अवस्था में उसके माता-पिता, परिवार, परिवेश का कर्त्वय हो जाता है कि वे बच्चे से उन क्रियाओं का अभ्यास करायें जिनसे बच्चा पशुत्व की विशेषताओं को अपने अन्दर प्रविष्ट न होने देने की दीवार की नींव सख्त कर ले और धीरे-धीरे प्राकृतिक शारीरिक व बौद्धिक विकास होते-होते धीरे-धीरे ही मन और इन्द्रियों का निग्रहण करने में पारंगत होने में प्रगति करता चले और पशुत्व की विशेषताओं के अवरोधक दीवार की नींव बहुत सख्त कर ले। इस प्रकार ज्यों-ज्यों बच्चा बड़ा होगा त्यों-त्यों मनुष्यत्व की विशेषताओं व इन्द्रिय-निग्रहण शक्ति की जड़ों को और मजबूत बनाने में बच्चा स्वयं भी प्रयत्नशील हो जायेगा। यह बहुत सीधी सी बात है। अर्थात्, मनुष्यत्व/मानवता आवश्यक है या पशुत्व प्राप्त करना है? निःसंदेह, उत्तर मनुष्यत्व संधारित करना है। और यह भी बात बहुत सीधी, अनुभव करने योग्य, भौतिकरूप से स्वयं प्रमाणित है कि इस काम के लिये किसी अक्षरज्ञान की आवश्यकता नहीं, इसके लिये आवश्यक हैं: आहार, विहार, व्यवहार, आचार तथा विचार। और इन सीधी-सीधी सी बातों की आवश्यकता अन्नत काल पर्यन्त तक रहेगी। गांधी ने भी यही विचार प्रकट किये; उनको कोई न माने, तो गांधी के विचार गलत नहीं हो जायेंगे; उनकी कोई अनुपालना न करे और पशुत्व ग्रहण करे, तो भी गांधी के विचार असत्य नहीं हो जायेंगे; उनको आज माने और व्यवहार में परिणित करे या आने वाले भविष्य काल में, गांधी के विचार सत्य थे, हैं और रहेंगे। (ठक्कर, 2012)

मनुष्यत्व/मानवता को अक्षुण्ण रखने, (अर्थात्, पशुत्व की प्रविष्टि रोके रखना), की शक्ति या क्षमता जब ठीक-ठीक रूप से विकसित हो जाये, तब बच्चे को अतिरिक्त ज्ञान (जोकि जीवन आदर्श/मानवता बनाम पशुत्व की दृष्टि से गौण हैं) देना शुरू करना, (मानवता बनाम पशुत्व के यथार्थ की दृष्टि से), चाहिये। (ठक्कर, 2012)

गांधी के अनुसार पूर्ण मानव तब बनता है जब उसमेंशारीरिक, बौद्धिक, तथा आध्यात्मिक सभी तरह की शक्तियों का एक साथ समग्र सन्तुलित विकास होता है। वास्तव में, पूर्ण मानव तब बनता है, जब व्यक्ति शारीरिक रूप से कर्मों को करने में सक्षम हो; शुद्ध व शान्त बुद्धि युक्त हो; स्वयं का भला करने के पहले दूसरों का भला करने की भावना रखे और तदनुसार भला करे भी; सभी को समान समझे; सन्तुष्ट हो; अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय, शुद्धता का धारक होने, अस्वाद, अभय, अस्पृश्यता निवारण, नम्रता, स्वदेशी का यथास्थिति पालक हो; 'सर्वधर्म-समभाव' को मानने वाला व पालक हो; तथा धैर्य, क्षमा, शान्ति, वाँछित अर्जन ही करे, इन्द्रिय निग्रह, वास्तविक ज्ञान, स्थिर बुद्धि, विद्या, अक्रोध को धारण व उनके अनुपालन में पारंगत हो। (ठक्कर, 2012)

(ठक्कर, 2012) ने अपने शोध में पाया:-(1) मनुष्यत्व/मानवता को अक्षुण्ण रखने की शक्ति या क्षमता जब ठीक-ठीक रूप से विकसित हो जाये, तब बच्चे को अतिरिक्त ज्ञान देना शुरू करना

चाहिये। (2) सबसे पहले सच्ची प्रारंभिक शिक्षा बाद में कुछ और। बच्चे की सच्ची प्रारंभिक शिक्षा वही होनी चाहिये जैसा कि गांधी ने कहा है। (3) शारीरिक शिक्षा अनिवार्यता दी जाये। (4) गांधी का शिक्षा के द्वारा (पूर्ण मानव बनाने या) मनुष्य का सर्वांगीण विकास (शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक विकास) किये जाने का विचार वर्तमान में पूर्णतः प्रासंगिक है। (5) धार्मिक शिक्षा आवश्यक है क्योंकि इससे मनुष्य के मूलभूत तीनों पक्षों – प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक (जिसमें अनिवार्य नियम, आचार-विचार-व्यवहार, आहार-विहार, इन्द्रिय-नियन्त्रण, शुद्ध बुद्धि, शांत बुद्धि, योग विज्ञान व चरित्र नियम व क्रियायें शामिल हैं)– का अनुकूलतम विकास होता है। (6) गांधी विश्व-व्यापक; अनंत-कालिक; सर्व-स्वीकार्य; सर्व-अनुकरणीय; सर्व-सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक स्थितियों व परिवेश में अनुपालनीय; तथा समस्त जड़-चेतन (मानव सन्निहित) के कल्याण के शिक्षा सुधारक अनूटे, अद्वितीय व नवीन धर्म व नीति-समुच्चय का संस्थापक व प्रवर्तक थे।

निष्कर्ष

गांधी वास्तविक शिक्षा उसे नहीं कहते थे जिससे सिर्फ ने लिखना, पढ़ना, हिसाब करना सीखना आये, या विद्यालय/ महाविद्यालय / विश्वविद्यालय में अर्जित की हुई कतिपय विषयों में विद्वता आये। गांधी ऐसी पूर्ण शिक्षा चाहते थे जिससे मानव की अंतर्निहित पूर्णता अभिव्यक्त हो, अर्थात् बौद्धिक, शारीरिक, आध्यात्मिक और नैतिक शक्तियों को बच्चों में पहचानना सिखाये व उनका विकास करवाये और उनका सदुपयोग करना सिखाये क्योंकि शिक्षा का आशय है कि विद्या और मानव मूल्यों दोनों का विकास करवाये। शिक्षा द्वारा शारीरिक विकास किये जाने के बारे में गांधी ने चेतावनी देते हुए कहा कि परम्परा अनुसरण में निष्क्रिय बुद्धि को ईश्वर, शासिका और स्वामिनी को ही सब कुछ समझना छोड़ते हुए यह समझें कि मस्तिष्क की भाँति बच्चों के हाथोंमें भी तो काया-कौशल का निवास है और बुद्धि को अपनी नवीन समाज-रचना में अनेक सेवकों में से एक मानते हुए उन्हें उन चीजों की शिक्षा दें जो बच्चों के जीवन को सरल और सादा बनाने वाली हों, प्राकृतिक सुंदरताओं की और उन्हें खींचकर ले जायें, अपने हाथ से काम करके उसके सहारे अपनी आजीविका कमाने में सहायक हों; अर्थात् बचपन से बच्चों के हृदय की कृतियों को योग्य दिशा मिले, उन्हें उदाहरणतः खेती आदि शारीरिक श्रम की माँग करने वाले उपयोगी कामों में लगाया जाये ताकि उद्योग से उनका शरीर कसे, बुद्धि अपने आप बढ़े और बच्चों के समग्र विकास की जाँच भी रोज होती रहे और साथ-ही-साथ उन्हें यथायोग्य गणितशास्त्र और दूसरे शास्त्रों का ज्ञान भी मिलता रहे और विनोद के लिये साहित्य आदि विषय की जानकारी भी होती रहे। इस प्रकार गांधी ने अपने विचारों में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, प्रयोजनवाद, यथार्थवाद, अस्तित्ववाद सभी के शैक्षिक उद्देश्यों को भी शामिल किया था। इस प्रकार गांधी ने उस शिक्षा की सार्वभौमिक आवश्यकता बतायी थी (1) जिससे बच्चों में

अन्तर्निहित शक्तियों का विकास हो; (2) जिससे बच्चे अपने स्थानीय प्रकृति व वातावरण को समझें और उनसे समायोजन करना सीखें; (3) जिससे बच्चे कुछ काम जीवकोपार्जन के लिये करना सीखें जिससे दूसरों को क्षति न पहुँचे; (4) जिससे बच्चे अपनी पूर्व पीढ़ी द्वारा अर्जित ज्ञान, संस्कृति व सभ्यता को समझें/अनुपालना करें और उसमें वृद्धि करें; (5) जिससे बच्चे मानव जीवन व सृष्टि की अदृश्य शक्ति (अर्थात् सत्य/ईश्वर) को समझें और उसका आदर करें, और उसके नियमों को मानें; (6) जिससे बच्चे अपने मानव जीवन के अर्थ व उद्देश्य को समझकर उनको प्राप्त करने के लिये जीना सीखें; (7) जिससे बच्चे बड़े होकर भी दूसरों से प्रेमपूर्वक व्यवहार करते रहें, दूसरों को अपना ही समझते रहें, दूसरों को क्षति पहुँचाने से दूर रहते रहें; (8) जिससे बच्चे मोह न रखें और सांसारिक चीजों का त्याग करना सीखें।

गांधी मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति में उसकी खुद की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की इच्छा होती है, और उसको परिवार व समाज की उससे अपेक्षित सुख, शांति, आनंद; सहयोग, स्नेही, सत्संग; सत्यम, प्रियं, हितं, दक्षता, सत्यनिष्ठा, श्रमशीलता आदि की माँगों को पूरा करे। इन इच्छाओं व अपेक्षाओं को तब ही पूरा किया जा सकता है, जब नीति का पालन हो, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय, अस्वाद, अभय, अस्पृश्यता निवारण, नम्रता, स्वदेशी, सर्वधर्म-समभाव धर्मों/नीतिनियमों का अनुपालना करे और अपना सर्वांगीण विकास कर सके और इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु ऐसी शिक्षा प्रदान करनी चाहिये जिसमें बच्चों का बौद्धिक-विकास किया जाना; स्वयं विद्या अर्जन करना सिखाना; शरीर-विज्ञान को ध्यान में रखकर स्वास्थ्य की रक्षा करना सिखाना; स्वभाव को नीतिपरक बनाकर नीतिपरक चरित्र आचार, विचार और व्यवहार को अच्छी तरह समझाकर उनको विकसित करना व अनुपालना करना सिखाना; तथा मौलिक तत्वबोध आधारित आध्यात्मिक विकास करना निहित हो।

बच्चों को व्यक्तित्व विकास के अंगों – बौद्धिक विकास, शारीरिक विकास, आध्यात्मिक विकास, और नैतिक विकास-के सिद्धांतों का पहले ज्ञान कराया जाये, फिर, उन सिद्धांतों को उनका अपना जीवन दर्शन बनाना सिखाया जाये व उस जीवनदर्शन को उनके अपने जीवन में चरितार्थ करने का संकल्प करना सिखाया जाये। जबकि, बौद्धिक विकास के अन्तर्गत बुद्धि की विश्लेषण शक्ति, विवेक शक्ति और स्मरण शक्ति का निरंतर अभ्यास कराया जाये ताकि उनका स्वभाव विश्लेषणात्मक बने, विचार व वाणी स्पष्ट व विश्लेषणात्मक बने, और विद्या अर्जन में उन्हें सुगमता-रुचि व आंतरिक सुख का अनुभव हो। जबकि, शारीरिक विकास के अन्तर्गत अपने शरीर को पवित्र स्वच्छ और सुंदर रखना सिखाया जाना चाहिये ताकि वे शरीर को ईश्वरप्रकाश का मंदिर समझ सकें; उन्हें नियमित आहार, विश्राम और व्यायाम इसकी साधना करायी जाये तथा शारीरिक अंगों का प्रयोग करते हुए धन अर्जन करने वाले किन्हीं उद्योगों में पारंगत करें। जबकि, नैतिक विकास के अन्तर्गत चरित्र निर्माण (सद्विचार, सदाचार और सद्व्यवहार) करना सिखाया जाये। जबकि, आध्यात्मिक विकास के अन्तर्गत सृष्टि के तीनों तत्वों- सत्य/ईश्वर,

जीवन और सृष्टि – का ज्ञान कराते हुए आत्मा और परमात्मा के योग की साधना करना सिखाना चाहिये। इस प्रकार, बच्चों को ऐसी शिक्षा देना चाहिये ताकि उनमें 1. बौद्धिक मनीषा, 2. सत्यनिष्ठा, 3. श्रमशीलता, 4. शरीर-विज्ञान ज्ञान, 5. तत्त्व-ज्ञान, 6. आध्यात्मिक-साधना, 7. सात्विक-स्वभाव, तथा 8. सच्चरित्रता गुण बनें।

उपरोक्त मानव मूल्यों से संपन्न विद्यार्थी आगे चलकर चाहे जो बनें (डॉक्टर बने, न्यायाधीश बने, इंजीनियर बने, राजनेता बने, उद्योगपति बने, या, व्यवसायी बने), किंतु वह सत्यनिष्ठ होंगे, अपने कार्यक्षेत्र में दक्ष होंगे, उनमें श्रमशीलता होगी, उत्कर्ष की अभीप्सा होगी, सदाचारी होंगे, और सद्व्यवहार से परिपूर्ण व लोकप्रिय होंगे। सुख-समृद्धि और कीर्ति उनके पीछे-पीछे चलेगी, वह मानसिक शांति के धनी होंगे, और उनमें आत्मिक आनंद की सतत् अनुभूति रहेगी। इन मानव मूल्यों का विकास, जो न भाषणों से होता है और न कानूनों से, बच्चों के विकास काल (6 वर्ष से 17 वर्ष की आयु में) शिक्षा द्वारा ही हो सकता है और यदि उपर्युक्त मानव मूल्यों का विकास इस अवधि में नहीं हुआ तो शिक्षा अधूरी है।

मनुष्यत्व/मानवता (पशुत्व नहीं) प्राप्त करने के लिये किसी अक्षरज्ञान की आवश्यकता नहीं, बल्कि इसके लिये आवश्यक है नीति शिक्षा। मनुष्यत्व/मानवता को बनाये रखने की शक्ति/क्षमता जब ठीक-ठीक रूप से विकसित हो जाये, तब बच्चे को अतिरिक्त ज्ञान देना शुरू करना चाहिये। गांधी के अनुसार पूर्ण मानव तब बनता है जब उसकी शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक, तथा नैतिक सभी तरह का समग्र, सन्तुलित व सर्वतोमुखी विकास हो। वास्तव में, पूर्ण मानव तब बनता है, जब व्यक्ति शारीरिक रूप से कर्मों को करने में सक्षम हो; शुद्ध व शान्त बुद्धि युक्त हो; आत्मबल व शारीरिकबल को पहचानने व समुचित प्रयोग करने में सक्षम हो; आत्मबलिदान करे; निष्काम व निःस्वार्थ दूसरों की सेवा करे; सभी को समान समझे; सन्तुष्ट हो; अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय, शुद्धता का धारक होने, अस्वाद, अभय, अस्पृश्यता निवारण, नम्रता, स्वदेशी का यथास्थिति पालक हो; सर्वधर्म-समभाव को मानने वाला व उसका भी पालक हो; तथा धैर्य, क्षमा, शान्ति, वाँछित गुण ही अर्जन करे, इन्द्रिय निग्रह, वास्तविक ज्ञान, स्थिर बुद्धि, विद्या, अक्रोध को धारण व उनके अनुपालन में पारंगत हो।

3.1.4 'नीति शिक्षा'

उपरोक्त अनुच्छेदों क्रमांक 3.1.2 व 3.1.3 के अन्तर्गत नीति व शिक्षा के आशय सम्बन्धी विवेचन व निष्कर्ष के आधार पर अब नीति शिक्षा का अर्थ निम्नरूपेण व्यक्त किया जाता है (हालाँकि यहाँ पर उनके उल्लेख करने से पाठकों को विषय को समझने में सुविधा होती, विवेचन में तारतम्यता होती और कुल सामग्री बोधगम्य होती, किन्तु विश्वविद्यालय के नियम द्वारा आंशिक

पुनरावृत्ति की भी मनाही होने के कारण उक्त अनुच्छेदोंमें वर्णित सामग्री को यहाँ व्यक्त नहीं किया जा रहा है)। 'नीति शिक्षा' का अर्थ निम्नलिखित है।

हर व्यक्ति की इच्छा होती है कि वह उदार बने; दयावान बने; निस्वार्थी बने; व समाज सेवा में लगे; सबसे प्यार करे; खुद स्वतंत्र रहकर दूसरों को स्वतंत्र रखे; सबमें समानता बरते; सहानुभूति रखते हुए दुर्बल, दीन व दुःखियों की सेवा करे; लोगों को कष्ट से उबारे; किसी से द्वेष, ईर्ष्या व घृणा न करे; कभी डरे नहीं इत्यादि। यह सभी कार्य नैतिक कार्य, नैतिक गुण होते हैं, धर्म होते हैं, कर्तव्य होते हैं, नीति नियम होते हैं। किंतु इन नियमों की संसार कोई कद्र नहीं करता है, तो इन गुणों को प्राप्त करने में लगा हुआ व्यक्ति सोचता है कि यदि इन गुणों की कद्र नहीं है तो फिर वह इनको पाने के लिए संघर्ष क्यों करें, त्याग क्यों करे। लोग भौतिकता की ओर अग्रसर हो रहे पदार्थ ज्ञान के पीछे भाग रहे हैं; वैज्ञानिक और इंजीनियर बनने में लगे हुए हैं; अर्थात्, सभी प्रचलित विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रासायनिक विज्ञान व तकनीकी विज्ञान आदि को ही ईश्वर मानने में लगे हैं, सब कुछ मानने में लगे; धन मात्र को जीवन का सार समझते हुए धन कमाने में भागे चले जा रहे हैं; तो निसंदेह नैतिक कार्यों, नैतिक गुणयुक्त कार्यों को करने का कोई प्रयत्न क्यों करेगा। यह पदार्थ के विज्ञान व भौतिक वस्तुओं का ज्ञान इंद्रियों से चलता है और इसमें भावनाओं को कोई स्थान नहीं दिया जाता है। इन तथाकथित पदार्थ विज्ञानों के कार्यों से किसी में नैतिक गुणों को प्राप्त करना और उनके अनुसार कार्य करने की कोई प्रेरणा नहीं मिलती है; तो आखिर लोग ऐसे नैतिक गुणों को क्यों प्राप्त करेंगे। मनुष्य को तो भौतिक पदार्थ व स्थूल पदार्थ मान करके उसके साथ व्यवहार किया जाता है; जबकि वास्तविक बात यह है कि मनुष्य में स्थूल शरीर और इसमें निहित इंद्रियाँ, (मात्र जिनके उपयोग से प्राप्त परिणाम पर तथाकथित इन्द्रियजनित सबूतों आधारित विज्ञान पर विश्वास करते हैं और उसके अनुसार सिद्धांतों का व तकनीकी का निर्माण करते हैं), के अतिरिक्त एक सूक्ष्म तत्व भी होता है। एक की उपेक्षा, उक्त सूक्ष्म तत्व की उपेक्षा, करके दूसरे की उन्नति व अन्ततः सम्पूर्ण की उन्नति कदापि नहीं हो सकती है। मनुष्य भावना प्रधान है और एक सूक्ष्मशक्तियुक्त है, जिसका अस्तित्व अनुभूतियों के द्वारा किया जा चुका है और हमेशा किया जा सकता है, और इस सूक्ष्मशक्ति के कारण ही मनुष्य को पशु के दर्जे से हटाकर मानव कहा गया है। यदि इस अदृश्य शक्ति, अनुभूतियोग्य शक्ति, सूक्ष्म तत्व (जो मनुष्य के शरीर में है) को महत्व नहीं दिया जाता है, तो ऐसे सारे कार्य बेकार हैं जिसमें उसे इन गुणों को महत्व नहीं दिया जाता है; अर्थात्, तथाकथित विज्ञान महत्वहीन हैं। तथाकथित महत्वहीन विज्ञान ने व इसकी खोजों ने मनुष्य के अंदर प्रमुख रूप से विद्यमान अनुभूतियोग्य सूक्ष्मतत्वरूपीशक्ति और चेतनाशक्ति को बिलकुल भुला दिया। आधुनिक तथाकथित इंद्रियजनित और इंद्रियों से अनुभव किए जा सकने वाली वस्तुओं के ज्ञान आधारित विज्ञान स्पष्ट रूप से पूर्ण मनुष्य को नहीं समझ सकता; यह मनुष्य

का भौतिक सत्यापन नहीं कर सकता है, क्योंकि तथाकथित विज्ञान मनुष्य की सबसे बहुमूल्य और सृष्टि में अन्य जीव-निर्जीव तत्वों की तुलना में अद्वितीय व सर्वश्रेष्ठ अदृश्य अनुभूतियोग्य सूक्ष्मतत्वरूपीशक्ति चेतना/अनुभूतियोग्य आत्मशक्ति को पहचानता नहीं है, जानता नहीं है, तथा इसके अध्ययन करने के औचित्य को मानता नहीं है। वस्तुतः ऐसे अध्ययन करने में उक्त तथाकथित विज्ञान अक्षम है। नैतिक मूल्य, यानी नीति संबंधी नीति पालन से दृष्टिगोचर गुण, तब उत्पन्न होते हैं जब व्यक्ति पूरी सृष्टि को एकरूप में समझें व उसके अंदर विद्यमान समस्त जीव-निर्जीवों को एक समझें, उनको आदर दें, और उन्हें अपने नियमों से चलने दें। सारे मनुष्यों के सारे-के सारे-कार्य व उसकी गतिविधियां (चाहे व्यक्तिगत प्रकार की हों या सामाजिक प्रकार की हों या व्यवहारिक प्रकार की हों या नौकरी-पेशा संबंधी हों) का आधार व केंद्रबिंदु जीवन-तत्व या आत्मतत्व या पूर्ण-सृष्टि होने पर ही मनुष्य का ही नहीं समस्त प्रकृति के प्रति न्याय हो सकना संभव है तथा संपूर्ण संसार में विद्यमान संपूर्ण जीव-निर्जीव जगत का शांतिमय, संतोषमय, प्रेमयुक्त, दया व सहानुभूतिपूर्ण निर्वाह संभव हो सकता है। लेकिन आजकल हो उल्टा रहा है। जीवन के वास्तविक तत्व को तो मान्य ही नहीं करते हैं; हालाँकि छुटपुट तरह से सभी शांति, भाईचारा, दया, सहानुभूति, प्रेम, त्याग आदि गुणों के प्रभाव से कमोबेश कार्य करते हैं। और दूसरी ओर सांसारिक वस्तुओं व जीवन बनाए रखने के लिए निष्प्रयोज्य वस्तुओं के लिए ही जी रहे हैं; सभी किसी न किसी बनावटी/गैर-प्राकृतिक भूख के चक्रव्यूह में फंसकर जीवन जी रहे हैं; सभी जीवन संधारण के लिए आवश्यक चीजों से भिन्न भौतिक संपन्नता, धन-संपदा, झूठा मान-सम्मान एवं झूठी इज्जत, दूसरों से ऊँचा दर्जा आदि की छीनाझपटी में प्रतिस्पर्धात्मक जीवन जी रहे हैं— जिनसे हिंसा व युद्ध आदि की स्थिति उत्पन्न होती है। यहाँ तक कि फिलॉसफी, आर्ट व धर्म में भी प्रतिस्पर्धा कर दूसरों से ऊँचा स्थान पाने के प्रयत्न में मग्न हैं; फिलॉसफी, आर्ट व धर्म को भी दूषित कर दिया है। अधिक से अधिक धन कमाने की लालसा में अपना घर व माता-पिता, भाई-बहन इत्यादि प्रिय लोगों को त्याग कर कार्य कर रहे हैं व कभी नहीं बुझने वाली भूख को बुझाने में कार्य कर रहे हैं। इस स्थिति में सुधार करने के लिये बहुत आवश्यक है कि समस्त लोग अपनी सारी क्रियायों हेतु जीवन तत्व को केंद्र बिंदु मानें; मानवीय गौरव का मूल्य समझें व इसे प्राप्त कर इसको संधारित रखें; धन व भौतिक समृद्धि को जीवन के लिए सब कुछ (अर्थात्, देवता/जीवन उद्देश्य) नहीं मानें; शारीरिक इच्छाओं पर नियंत्रण रखें; स्व-अनुशासन बरतें; आत्मज्ञान हासिल करें; व्यवस्थापूर्ण रहें; छोटे-छोटे समुदाय में रहें; प्रकृति और संस्कृति में संतुलन रखें और सौंदर्य की भावना रखें; परस्पर सहयोग, प्रेम, समानता, स्वतंत्रता, दया व सहानुभूति रखें; एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के प्रति उत्तरदायी बन कर रहे; मनुष्यों का एक समूह ऐसे ही अन्य समूहों के प्रति उत्तरदायी बन कर रहे।(नारायण, 1957)

शिक्षा/शिक्षण का मतलब है कि उससे सारी समस्याओं का हल हो जाए। किंतु आजकल तो शिक्षण ही एक समस्या बन गई है। शिक्षण पद्धति के कारण वर्ग भेद बन गए हैं। ज्ञान का संबंध पैसे से जोड़ दिया गया है, जबकि पैसे से जरूरत की कोई भूख शांत नहीं होती है। आजकल की किताबी शिक्षा किसी काम का नहीं है और सब के लिए हानिकारक है। शिक्षण जिनको मिलता है वह बेवकूफ भी बनते हैं, जबकि अशिक्षित लोग मात्र बेवकूफ होते हैं किंतु बेकार नहीं होते।(भावे, 2010)

शिक्षण का उद्देश्य होना चाहिए, जीवन के रंग से रंगा हुआ। शिक्षण का उद्देश्य होना चाहिए, जगत को उद्योगशील बनाना और विचारशील बनाना। किंतु हुआ उल्टा है। अनेक पहलूओं/भागों में शिक्षा को विभाजित कर दिया गया है, जो अनर्थक है। उदाहरण के लिए हैं:- शहर का शिक्षण, गाँवों का शिक्षण, बच्चों का शिक्षण, स्त्रियों का शिक्षण, पुरुषों का शिक्षण, औद्योगिक शिक्षण, बौद्धिक शिक्षण इत्यादि।(भावे, 2010)

(भावे, 2010) ने शिक्षण का तत्व बताते हुए कहा है कि ऐसी शिक्षा होनी चाहिये जिसमें शिक्षकों को बच्चा बनना है और विद्यार्थियों/बच्चों को बड़ा बनना है। आगे उन्होंने कहा कि शिक्षा मातृभाषा में होनी चाहिए; भले ही एक हिंदू बच्चे को हिंदी में कुरान पढ़ाई जाये या मराठी वीरता को पढ़ाया जाये। ऐसा करने से बच्चों को अर्थ का ज्ञान होगा।(भावे, 2010)

आध्यात्म से आत्मा की पहचान करनी होगी; शरीर, मन और इंद्रियों पर काबू रखना और काबू रखने में अभ्यस्त बनाना होगा बच्चों को। तभी दुनिया में प्रेम पैदा होगा; व्यक्तिगत लाभ की लालसा नहीं रहेगी; व्यक्तियों-व्यक्तियों में भेद नहीं रह जाएगा; मैं-पन, मेरा-पन व मेरी-पननहीं रह जाएगा; बल्कि उसके स्थान पर उसका-पन व सबका-पन आ जाएगा। शिक्षण में क्रांति लाने के लिए सरकारी तंत्र से शिक्षा को स्वतंत्र बनाना होगा व शिक्षा मातृभाषा में देनी होगी। शिक्षा में दूसरी भाषा पढ़ाया जाना रखा जा सकता है, किंतु उसको सीखने की बाध्यता नहीं होनी चाहिए। आध्यात्मिक शिक्षा, सामान्य शिक्षा का एक अनिवार्य अंग होना चाहिए। शिक्षा उद्योग व शारीरिक श्रम के द्वारा दी जानी चाहिए। शिक्षा प्राकृतिक वातावरण में देनी चाहिए।

(भावे, 2010) ने शिक्षा का मतलब बताया है कि शिक्षा में शरीर-परिश्रम और साम्य योग दोनों होना चाहिए। शारीरिक और बौद्धिक कामों के मूल्य में अंतर नहीं होना चाहिए। उनका मानना था कि सब शिक्षकों को एक समान पारिश्रमिक मिले। शिक्षकों को मिलने वाले पारिश्रमिक को वेतन कहने के पक्ष में भावे नहीं थे। भावे का कहना है कि शिक्षकों को मिलने वाले पारिश्रमिक को दक्षिणा कहना ज्यादा अच्छा है।

शिक्षा का ज्ञान और कर्म से संबंधित बताते हुए (भावे, 2010) ने कहा है कि ज्ञान और कर्म दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं; यह दोनों चीज एक ही हैं; एक ही वस्तु के दो स्वरूप हैं ज्ञान और कर्म। न तो ज्ञान को हम कर्म से श्रेष्ठ कह सकते हैं, और न ही हम कर्म को ज्ञान से श्रेष्ठ कह सकते हैं। इसलिए ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम कर्म ही हो सकता है। उदाहरण देते हुए

उन्होंने कहा कि बच्चे को माँ ज्ञान देती है, तो वह कोई किताब नहीं पढ़ाती, बल्कि क्रिया का रूपांतर शब्दों में करके माँ बच्चे को ज्ञान देती है। इस प्रकार ज्ञान की प्रक्रिया में शुरु से ही कर्म होता है, मध्य में भी कर्म होता है और अंत में उसका परिणामस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए उन्होंने इसी आधार पर शिक्षण देने की सिफारिश की थी। उनका कहना था शिक्षण ऐसा हो जिससे यह प्रतीत ही न हो कि ज्ञान कार्य कर रहा है या कर्म योग चल रहा है। अर्थात्, एक दृष्टि से देखें तो मालूम पड़े कि ज्ञान कार्य चल रहा है और दूसरी दृष्टि से देखें तो मालूम हो कि कर्म योग चल रहा है। इस प्रकार के शिक्षण को उन्होंने शिक्षण प्रयोग कहा है; अर्थात्, ज्ञान कार्य और कर्म योग कार्य में से कौन सी चीज चल रही है उसका पता ही न चले ऐसा शिक्षण होना चाहिए। कर्म से ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान से कर्म की प्रेरणा मिलती है और दोनों से जीवन सार्थक होता है। अतः ज्ञान और कर्म में भेद न करते हुए शिक्षा दी जानी चाहिए। जिस शिक्षा पद्धति में ज्ञान और उद्योग का समवाय होगा, वही सच्ची शिक्षण पद्धति होगी। ज्ञान की क्रिया चलती है, तो कर्म की क्रिया भी चलती है, और जब कर्म होता है तो ज्ञान भी अर्जित होता रहता है, और साथ ही साथ इस प्रकार कर्म और ज्ञान एक दूसरे से इतने ज्यादा ओत-प्रोत होना चाहिए कि किसी भी तरह का जोड़ बैटाने का काम ही न हो। इसके अतिरिक्त और कहीं से ज्ञान लेने की जरूरत नहीं है। हम अनेक प्रकार के व्यायाम करें लेकिन इस व्यायाम से किए गए शारीरिक परिश्रम से कोई उपयोगी वस्तु का उत्पादन नहीं होगा; फलदाई वस्तु उत्पादित नहीं होगी। दूसरे शब्दों में, हाथ में फावड़ा लेकर परिश्रम करें तो मजदूरी कहलाएगी और बिना फावड़ा लिए शारीरिक श्रम करेंगे तो व्यायाम कहलाएगा। तो इस तरह की शारीरिक श्रम से भेद बढ़ जाता है।

वर्तमान समय की शिक्षा में बच्चों को विस्तृत इतिहास पढ़ाया जाता है राजाओं के नाम, जन्मतिथि, युद्ध इत्यादि याद कराए जाते हैं और अन्य विषयोंकी सामग्री भी इसी प्रकार रटायी जाती है। इससे विद्यार्थियों का मस्तिष्क स्वतंत्र नहीं रह पाता है और वो अपने मस्तिष्क में छिपी हुई शक्तियों को विकसित नहीं कर पाते। वास्तव में तो शिक्षा उस विषय की तथा उस तरह से देना चाहिए जिससे हम सभी का जीवन विकसित होता है। बच्चों को तत्व-ज्ञान, धर्म-विचार, व नीति-विचार, इन सबका ज्ञान देना चाहिए। बच्चों को उनके समाज और दूसरे समाज की विशेषताओं का ज्ञान देना चाहिए। विज्ञान के मूलभूत विचारों का ज्ञान बच्चों को देना चाहिए। बच्चों को आरोग्य शास्त्र, आहारशास्त्र, स्वच्छता व रसोईशास्त्र आदि का उत्तम ज्ञान देना चाहिए। बच्चों को अच्छी लेखन कला सिखाना चाहिए, अच्छा साहित्य पढ़ाना चाहिए। इस प्रकार से शिक्षा देने से बच्चों में ज्ञान की कमी नहीं होगी, बच्चे ज्ञान से संपन्न होंगे और वह ज्ञान उनके वास्तविक जीवन के लिए कारगर होगा। (भावे, 2010)

भूगोल, इतिहास, गणित, रेखागणित आदि अनेक विषयों की शिक्षा बच्चों को यह कहकर दी जाती है कि इन सबसे उनमें अलग-अलग प्रकार के विकास होंगे; अर्थात्, किसी विषय से

वाणी का विकास होगा, किसी से उनके मन का विकास होगा, किसी से उनकी बुद्धि का विकास होगा और किसी से उनकी इंद्रियों का विकास होगा। किंतु आजकल इस प्रकार से दी जाने वाली विभागों/भागों में बँटी शिक्षा बिल्कुल बेकार है। यह सिद्ध है कि प्रकृति के पंचभूत स्थाई है। इन पाँच मूलतत्वों को कोई विज्ञान झूठा सिद्ध करने नहीं पाया है और न ही झूठा साबित कर सकता है। यह पंचभूत दिखने के कारण नहीं है, बल्कि दर्शन से निकले हुए हैं। सृष्टि में पाँच महाभूत ही कायम रहेंगे। तो इसलिए हमें तमाम विषयों को या तमाम पुस्तकों को नहीं सजाना चाहिए, बल्कि बच्चों को सजाना चाहिये। बच्चों के अंदर छुपी शक्तियों को विकसित करना चाहिये; बच्चों के मन, बुद्धि आदि को सही तरह से उपयोग करना सिखाना चाहिये; बच्चों को खाने-पीने का शास्त्र और आरोग्य शास्त्र सिखाने की जरूरत है; बच्चों को उत्तम भाषा सिखानी चाहिए; बच्चों को एक दूसरे के साथ बर्ताव करना सिखाना चाहिए; बच्चों को नीति-विचार व धर्म-विचार सिखाना चाहिए। बच्चों को झूले से लेकर इस श्मशान तक का सारा ज्ञान नहीं देना चाहिए बल्कि उनको ऐसा ज्ञान देना चाहिए जिस ज्ञान की उन्हें आवश्यकता होती है; जिसके प्राप्त होने से उनके अंदर छुपा हुआ स्वयंभू ज्ञान बाहर निकले। अर्थात्, बच्चों को प्रकृति ज्ञान, ज्ञान शक्ति संपादन और आत्म ज्ञान प्रदान करें। (भावे, 2010)

जनसंख्या बढ़ रही है; लोग चिंतित हैं। इसका कारण अपने किए हुए कर्मों के फल को समझ रहे हैं, जैसे अज्ञानता, दवाइयों व स्वास्थ्य-रक्षा के उन्नत साधनों के परिणामस्वरूप आयुकाल में वृद्धि होना, आदि। और अपने कर्मों के परिणामों पर मरम्मत आदि के प्रत्यनों से जनसंख्या पर नियंत्रण पाना चाहता है मनुष्य। किंतु वास्तविक कारण जो जनसंख्या वृद्धि का है, उसको मनुष्य ने नहीं देखा; तथा उस समस्या की जड़ को नहीं देख रहे है लोग। इस जड़ को देखने व उसके अनुसार कार्य करने से जनसंख्या वृद्धि इतनी कभी नहीं हो सकती है, या जनसंख्या वृद्धि चिंता का विषय नहीं बन सकता या जनसंख्या इतनी नहीं बढ़ सकती जिसको यह धरती/यह वातावरण सहन न कर सके। प्रकृति के अनुसार यदि मनुष्य चले तो समस्याएं उत्पन्न नहीं हों; चाहे वह जनसंख्या की ही समस्या हो। प्राकृतिक नियम तो यह है कि व्यक्ति को संयम रखना आना चाहिए। संयम रखने की शिक्षा ही नहीं दी गई है। विज्ञान, इतिहास, राजा-महाराजा इत्यादि बातों को रटने-रटाने पर ही ध्यान दिया गया है। किंतु नैतिकता की शिक्षा नहीं दी गयी। नैतिकता की शिक्षा में संयम पूर्ण व्यवहार करना शामिल है। गौतम बुद्ध ने कहा है, हस्तसंयतो, पादसंयतो तथा वाचासंयतो। अर्थात् हममें हाथों का कौशल हो। इंद्रिय कौशल के साथ में इंद्रिय-संयम भी हो। जिसमें संयम की शक्ति नहीं है, उसमें चाहे किसी भी प्रकार का कौशल हो वह हानिकारक ही होगा। जब संयम की शक्ति होती तब समस्याएं उत्पन्न नहीं होंगी। बल्कि मनुष्य को लाभ होगा। केवल शक्ति में लाभ नहीं है, केवल कौशल में लाभ नहीं है, लाभ है शक्ति का और कौशल का कल्याणकारी उपयोग करने में। हमारे यहां शिक्षा में संयम प्रधानता तो है ही नहीं; स्वच्छंदता है। आवश्यकता है ऐसी शिक्षण पद्धति की, जैसी बुनियादी

शिक्षा की शिक्षण पद्धति है, जिसमें बचपन से बच्चे अपनी इंद्रियों को, मन को और अपनी बुद्धि को संयम से नियंत्रण में रखें। बच्चों को शिक्षा दें कि अपनी वाणी में सत्यनिष्ठा लाएं, वाणी से विचार प्रकट हो और वाणी में शील और शैली दोनों ही हों।(भावे, 2010)

आवश्यकता है उस प्रकार की शिक्षा देने की जिससे विद्यार्थी जीव-निर्जीव के लिए सेवा करना सीखें और आर्थिक मूल्यों को मात्र शरीर को चलाने तक ही महत्व दें। अर्थात् शिक्षक को यह समझना चाहिये और सिखाना चाहिए कि मनुष्य जो भी शारीरिक या मानसिक कर्म करता है वह कार्य नैतिक वस्तु है; वह कार्य दूसरों की सेवा करना है; और चूँकि वह कार्य नैतिक कार्य है/सेवा का कार्य है और इसलिए उसका मूल्य रुपए-पैसे से नहीं आँका जा सकता है। रुपए-पैसे की उतनी ही सिर्फ जरूरत है, जितना कि अपना शरीर चलाने के लिए जरूरत है। जिसमें दो रुपए के खाने की भूख है, तो उसे दो रुपए का ही खाना खाने का हक है और उसे दो रुपए ही देना समाज का कर्तव्य है; चाहे ऐसा व्यक्ति एक किसान हो या शिक्षक हो या किसी कंपनी का डायरेक्टर।

समाज के लिए आवश्यक आचरण का एक सूत्र बताते हुए (भावे, 2010) ने कहा कि शरीर का पोषण शरीर-परिश्रम से करना चाहिए, यानी, 'ब्रेड लेबर'। शिक्षा का 'ब्रेड लेबर' सिद्धांत होना चाहिए। इस 'ब्रेड लेबर' को श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ का नाम दिया गया है। शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम में अंतर बताते हुए भावे ने कहा है कि बौद्धिक काम करके शरीर को खिलाना उत्तम धर्म नहीं है। बौद्धिक काम करके यदि खाना हासिल किया गया है तो यह भी उत्तम कार्य नहीं है। उन्होंने आगे कहा है कि शरीर का पोषण शरीर-परिश्रम से ही करना चाहिए। शरीर परिश्रम के बारे में उन्होंने स्पष्ट किया है कि शारीरिक परिश्रम तो लुटेरे भी करते हैं। तो यह शारीरिक परिश्रम तब हितकारी होगा जब इसमें साम्य योग और स्वावलंबन; यह दोनों हो। और यदि यह गुण, साम्य योग और स्वावलंबन दोनों से युक्त, हमारी शिक्षा में नहीं हैं; तो हमारी शिक्षा अधूरी है; शिक्षा शिक्षा कहलाने लायक ही नहीं है। यदि इस प्रकार की शिक्षा होगी, तो हर एक को अपने बच्चे और दूसरों के बच्चों में कोई भेद नहीं दिखेगा।

और भी, आगे (भावे, 2010) ने शिक्षण के बारे में बताते हुए कहा है कि शिक्षण में ऐसी स्थिति हो कि चौबीसो घंटे बच्चे ज्ञान प्राप्त करें; चौबीसो घंटे काम करें और चौबीसो घंटे ही आनंद प्राप्त करें। शिक्षण का मंत्र उन्होंने सच्चिदानंद बताया है। सत् है कर्म योग; चित् है ज्ञान योग; आनंद भी हो। आनंद ज्ञान से भिन्न नहीं रहेगा। चित्त यानी ज्ञान के बिना जीवन स्थूल बनता है और आनंद के बिना जीवन में कोई रुचि नहीं होती। अर्थात्, जिस शिक्षण में सत्, चित और आनंद इन तीनों का समावेश होगा वही सच्ची शिक्षा है।

गांधी के अनुसार धर्मनीति की शिक्षा के पहले अक्षर-ज्ञान, किन्हीं भी विज्ञानों व टेक्नोलॉजी की शिक्षा, या अन्य किसी प्रकार की भी शिक्षा जरूरत नहीं। धर्मनीति की शिक्षा से आशय है, नीति समाहित धर्म की शिक्षा, किन्तु धर्म की शिक्षा न भी हो, तो भी नीति शिक्षा तो है ही। और धर्म की शिक्षा यदि हो भी, तो पाखण्डयुक्त कदापि न हो, अन्ध न हो। चूँकि धर्मनीति में नीति का होना परम आवश्यक है, अतः सार्वकालिक व सर्वव्यापकता की दृष्टि से धर्मनीति के स्थान पर नीति शिक्षा ही कहना सर्वोचित है।

स्पष्टतः गांधी की दृष्टि में नीति का अर्थ है सभी मनुष्यों द्वारा उनके समस्त कार्यों द्वारा मानव सेवा करना। मानव सेवा किये जाने का पालन कर निरक्षर भी कर सकता है। इसका औचित्य है, सृष्टि, सर्वव्यापक व अदृश्य सृष्टिकर्ता, सृष्टिकर्ता द्वारा सृष्टि परिचालन व इसके नियम जिसको समग्ररूप से गांधी ने सत्य/ईश्वर से सम्बोधित किया है। इस नीति पर चलना जन्म से ही मनुष्य योनि में जन्म लेने के कारण व मनुष्य होने के नाते उसका पहला कर्तव्य/धर्म/फर्ज (डियुटि; संसार में लोगों के द्वारा बनाये गये हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, यहूदी, जैन, बौद्ध आदि अनेक धर्म से आशय नहीं है) है। यानी, मनुष्यरूप में जन्म से उत्पन्न नीति, जिसका पालन एक निरक्षर भी कर सकता है। निःसन्देह, बाकी सांसारिक कर्मों को करने व सांसारिक उद्देश्यों को प्राप्त करने [धन प्राप्ति करना, प्रसिद्धि प्राप्त करना, ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करना, पढ़ना-लिखना] का सवाल बाद में उठता है। इस परमनीति/परमधर्म/सर्वप्रथम व सर्वोत्कृष्ट ध्येय का पालन कैसे हो? इस परमनीति/परमधर्म की पालना को सुनिश्चित करने के लिये व सर्वसुलभ करने के उद्देश्य से गांधी ने कुछ नियम/विधि बनायी जिसको नीति नियम/नैतिक नियम कहा। ये नियम बहुत ज्यादा नहीं हैं। इन नियमों की संख्या सिर्फ ग्यारह हैं। इन नियमों के अनुसार व्यक्ति को व्यवहार करने के लिये अन्य किसी ज्ञान-विज्ञान-संसाधन-धन-सम्पदा-ऊँच/नीच-दरजे, पढ़ाई-लिखायी आदि की आवश्यकता नहीं। जो चीज आवश्यक है, वो सृष्टिकर्ता ने मनुष्यरूप में जन्म देकर मनुष्य को जन्म से ही प्रदान कर दी है। मनुष्य में ही सब सांसारिक चीजें मौजूद हैं। ये ग्यारह नियम हैं:- अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अछूतपन मिटाना, शारीरिक मेहनत, नम्रता, स्वदेशी तथा सर्वधर्म-समभाव। बस इनके अनुसार व्यक्ति आचरण करता रहे। हाँ, निश्चित उद्देश्य, अर्थात् सत्य/ सत्याग्रह/ईश्वर, के प्राप्ति के लिये बच्चों को प्रारम्भ से ही (बाल्यावस्था से) नियमों पर चलना सिखाना चाहिये और यदि कोई चाहे तो इस सिखाने की क्रिया को शिक्षा देना शब्दों से व्यक्त कर सकता या अन्य शब्द से जैसा जिसे उचित लगे। चूँकि संसार में शिक्षा शब्द अधिकांश लोगों ने मान लिया है, इसलिये शिक्षा को लेकर गांधी ने अपनी बात कही है, नीति की पालना/ नीति नियम की पालना शिक्षा। बच्चों को ही क्यों, बाल्यावस्था में ही क्यों, बड़ों को क्यों नहीं? इन प्रश्नों पर विवेचन यहाँ पर आगे किया गया है, इसलिये नहीं

किया जाता है। फिर भी यह उपयुक्त है कहना कि जन्म से 17 वर्ष तक की आयु में मनुष्य जीवन में बहुत कुछ सीखा जा सकता है और वह एक लम्बे काल तक बना रहता है। फिर जन्म से ही बच्चों की परवरिश करना ही पड़ता है। बच्चों पर वातावरण का असर बहुत अधिक पड़ता है। संसार में शिक्षा शब्द बच्चों की शिक्षा के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है। प्रश्न है अब कि नीति/नीति नियम की पालना करना सिखाने, या उसकी शिक्षा देने, के लिये क्या करना चाहिये। मनुष्य-बच्चे को शिक्षा देने का अर्थ भी गांधी ने बता दिया है। बच्चों में अन्तर्निहित शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक व नैतिक शक्तियों का समग्ररूप से, सन्तुलितरूप से, सर्वोत्कृष्टरूप में जाग्रत करना व विकसित करना ही वास्तविक/सर्वप्रथम/सर्वोत्कृष्ट शिक्षा है। बौद्धिक, शारीरिक, आध्यात्मिक व नैतिक विकास सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियमों में वो सभी बातें, गुण, कार्यरिति, कर्तव्य/धर्म आदि सम्मिलित है जिनसे मनुष्य-बालक की बौद्धिक, शारीरिक, आध्यात्मिक व नैतिक शक्तियों को समग्ररूप से व सर्वोत्कृष्टरूप में जाग्रत किया जा सकता है व विकसित किया जा सकता है।*तो निष्कर्षरूप में यह पाया गया कि गांधी की नीति और नीति नियमों की अनुपालना करना सिखाना ही नीति शिक्षा है और ऐसी अनुपालना सीखना मनुष्य-बच्चों/ मनुष्य का मनुष्यरूप में जन्म लेने के साथ उत्पन्न कर्तव्य/ धर्म है।*

गांधी चाहते थे कि प्रत्येक बच्चे/बड़े को इस प्रकार की सीख दी जाये कि उनमें मैं-पन, मेरा-पन, मेरी-पन की भावना उदित ही नहीं होने पाए। मानव की सेवा, सहायता व सहयोग करना ही व्यक्ति अपने जीवन का उद्देश्य समझें और अपनी हर एक सांसारिक गतिविधि व कार्य को मात्र उक्त उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए ही सोचें व करें। जीव मात्र की सेवा करता हुआ ईश्वर/ सृष्टि निर्माता व संचालक की सेवा करना समझता रहे। हर स्थिति, हर समय व हर किसी से निःस्वार्थ व पूर्णरूपेणप्रेम करता रहे और उनके लिए अपने पास उपलब्ध वस्तुओं का त्याग करता रहे। और ऐसा करना अपना कर्तव्य समझे और बिना स्वयं का कोई फायदा मिलने की बात ध्यान में लाए ऐसा करता रहे। आत्मविश्वास व अंदरूनी ताकत को प्राप्त कर निःसंकोच अपना सब कुछ जीवमात्र के कल्याण वास्ते समर्पित करता रहे, भले ही ऐसा करने में उसे खुद को कष्ट मिले, या भले ही ऐसा करने के लिए उसे अपनी जान गँवानी पड़े। मन, बुद्धि व चित्त को अपने आत्मबल से नियंत्रण में रखे। न तो दिल से, न सोच से, न ही कार्यों से, न ही बोल-चाल से और न ही प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से किसी प्रकार के व्यवहार से ऐसा कोई कार्य करें जिससे किसी को दुःख, पीड़ा व कष्ट पहुंचने की संभावना हो। अपना जीवन अपने लिए नहीं जी कर दूसरों के लिए जिए, और ऐसा करने के लिए स्वयं के लिए कोई इच्छा न रखे। कभी किसी प्रकार की चोरी न करे; न वस्तु की और न विचारों की। किसी या किन्हीं विशेष को ही अपना न समझे, बल्कि शांत स्वभाव से बिना काम, क्रोध, द्वेष व घृणा के सभी

जीव-निर्जीव को अपना अंशी समझकर प्यार करे। हमेशा शारीरिक मेहनत करते हुए अपने शरीर को मजबूत बनाए रखे और उसी से मात्र त्यागी जीवन के लिए उपयोगी खाने-पीने की वस्तुओं का प्रबंध करे। सभी प्रकार के सांप्रदायिक धर्मों को अच्छा समझे। अपने जीवन में हमेशा खुश व संतुष्ट रहे।

3.2

शोध प्रश्न-3: 'नीति शिक्षा' में किस / (किन) नीति (नीतियों) की शिक्षा दी जाये? 'नीति शिक्षा' के अन्तर्गत दी जाने वाली नीतियों के अर्थ क्या है?

पूर्व अनुच्छेदों, क्रमांक 3.1.2 से 3.1.4, में वर्णित नीति, शिक्षा और नीति शिक्षा पर व्याख्या, विवेचन व निष्कर्ष की (विश्वविद्यालय नियम में आंशिक पुनरावृत्ति भी अनुज्ञेय न होने के कारण) पुनरावृत्ति नहीं की जा रही है, किंतु उक्त विवेचन व निष्कर्ष को इस प्रश्न के उत्तर के लिए अपरिहार्य आवश्यकता होने के कारण इस प्रश्न के उत्तर का अंग व आधार मानते हुए इस प्रश्न के संबंध में आगे का विवेचन व निष्कर्ष का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

'नीति शिक्षा' में निम्नलिखित नीतियों की शिक्षा दी जानी चाहिये तथा इन नीतियों के अर्थ निम्नलिखित हैं।

गांधी की दृष्टि से इस दिशा में (सत्य/ईश्वर प्राप्ति की दिशा में) बढ़ने के कुछ नियम कारगर हैं, जिन्हें नीति नियम कहा जाता है और जिनमें अहिंसा सर्वप्रथम, सबसे महत्वपूर्ण और अवश्य ही पालन करने वाला है और जिसके अकेले की पालना से कुछ अन्य नियमों की पालना स्वतः हो जाती है। ये नीति नियम हैं:-

1. अहिंसा,
2. ब्रह्मचर्य,
3. अस्वाद,
4. अस्तेय,
5. अपरिग्रह,
6. अभय,
7. अछूतपन मिटाना,
8. शारीरिक मेहनत,
9. नम्रता,
10. स्वदेशी तथा
11. सर्वधर्म-समभाव।

उपरोक्त नियमों को अग्रवर्णित किया जाता है।

1. अहिंसा।

अहिंसा का अर्थ प्रेम होता है और वो भीसर्वव्यापी व सार्वकालिक । (गांधी, 1958)

चूँकि सत्य में से अहिंसा निकलती है, इसलिए सत्य साध्य है और अहिंसा सत्य प्राप्त करने साधन है। और इसी वजह से बिना अहिंसा के सत्य को पाना असंभव है। और चूँकि अहिंसारूपी साधन हमारे वश की बात है, इसीलिए अहिंसा को परम-धर्म कहा जाता है।

अहिंसा का अर्थ किसी को भी मारना नहीं है— किंतु खराब विचार भी हिंसा है, जल्दबाजी करना भी हिंसा है, झूठ बोलना भी हिंसा है, द्वेष-बैर-डाह भी हिंसा है, किसी का बुरा चाहना भी हिंसा है, और जिस चीज की लोगों को जरूरत है उस पर अपना कब्जा बनाना भी हिंसा है। (गांधी, 1958)

समझने की बात यह है कि जब शरीर ही हमारा अपना नहीं है (अर्थात्, दूसरों के द्वारा दी गई वस्तु और दूसरों को देने के लिए मिली हुई वस्तु है), तो शरीर भी दूसरों की चीज है, पराई है। ऐसा समझकर शरीर का उपयोग करके हमें अपनी राह बनानी चाहिए। अर्थात्, अहिंसा का पालन करना बहुत जरूरी है। (गांधी, 1958)

अहिंसा का मतलब यह हुआ कि सभी जीवों के लिए पूरा प्रेम हो। इसलिए अहिंसा का मतलब यह भी हुआ कि अछूतपन मिटाना भी अहिंसा है, क्योंकि सभी जीवों के साथ का भेद-भाव मिटाना अछूतपन मिटाना ही है। (गांधी, 1958)

अहिंसा का महत्व भारतीय प्राचीन शास्त्रों व उपनिषदों में है। अहिंसात्मक कर्म करने के निर्देश जैन धर्म व बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में भी है। गांधी के अनुसार भी सत्य/ईश्वर की प्राप्ति के लिये अहिंसा एक प्रमुख साधन है। गांधी ने अहिंसा के पालन करने के लिये सिर्फ कहा ही नहीं, बल्कि अहिंसा का रोजमर्रा व्यवहार में अमल भी किया, और यहाँ तक कि राजनीति क्षेत्र में भी गांधी ने अहिंसा का अनुप्रयोग किया। (गांधी, 1932 जून 25)

अहिंसा का आमतौर पर अर्थ समझा जाता है, किसी को मारना नहीं, पीटना नहीं आदि । किन्तु गांधी ने अहिंसा का व्यावहारिक अर्थ बताया और उसका अनुप्रयोग करके दिखाया। गांधी के अनुसार, अहिंसा का अर्थ है: किसी भी जीव को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाना और उनके प्रति किसी भी रूप/ प्रकार से हिंसा नहीं करना। हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, हत्या, असूया (दूसरे के गुण, सुख, समृद्धि आदि को सहन न कर सकना), दोह (बैर, विद्रोह, अनिष्ट चाहना), अमर्ष (असहिष्णुता), क्रूरता, चोरी आदि से भी घटित होती है, और इसलिये इन दुर्गुणों से दूर रहने से अहिंसा पालन सम्भव होती है। (गांधी, 1932 जून 25)

अहिंसा एकशक्ति है जिसमें आत्मा की शक्ति या मनुष्य की उच्चतर प्रकृति की शक्ति होती है और जो कि पशुबल से बहुत अधिक शक्तिशाली होती है। (गांधी, 1932 जून 25)

अहिंसा आत्मबल की सूचक है और इसका भावनात्मकरूप प्रेम है। प्रेम की शक्ति और समाज पर इसके असर की तुलना भाप और बिजली के मध्य सम्बन्ध से की जा सकती है। प्रेम समाज में ठोस व दीर्घ सुधार ला सकने में सक्षम है। अहिंसा सैद्धान्तिक रूप से निरपेक्ष तो होती है

किन्तु व्यवहार में अनिवार्य हिंसा के साथ व्यवहारिक अहिंसा होती है। निरपेक्ष अहिंसा से आशय है, हिंसा का पूर्ण लोप। किन्तु हिंसा से पूर्ण मुक्ति मनुष्य प्रकृतिवश प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि खाने-पीने, साँस लेने, चलने-फिरने, उठने-बैठने पर किसी-न-किसी पदार्थ के साथ हिंसा होती है। अतः वह हिंसा जो प्राकृतिकरूप होनी ही होती है और जिससे मनुष्य अपने प्रयत्नों के बावजूद भी दूर नहीं रह सकता है, उसी को अनिवार्य हिंसा कहते हैं और इसको उचित माना जाता है, यदि यह स्वाभाविक, दयापूर्ण और विवेकयुक्त। (गांधी, 1932 जून 25)

अहिंसा के प्रयोग किये जाने पर अहिंसा बिना किसी माध्यम के स्वतः उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जीवन के सभी क्षेत्रों पर अहिंसा अनुप्रयुक्त होती है, चाहे वह आबादी की समस्या हो, शिक्षा की समस्या हो, आर्थिक समस्या हो, विश्वशान्ति की समस्या हो, इत्यादि। अर्थात्, अहिंसा का एक क्षेत्र में तो उपयोग करें और किसी अन्य क्षेत्र में अहिंसा का उपयोग न करें, तो इसे अहिंसा पालन नहीं कहा जायेगा। अर्थात्, अहिंसा जीवन के हर पहलू पर पूर्णरूप से लागू होनी चाहिये, व्यक्तियों पर ही नहीं बल्कि जन-समूहों पर भी लागू होनी चाहिये। (गांधी, 1932 जून 25)

अहिंसा सर्वभूतहिताय होती है। भौगोलिक, ऐतिहासिक, मानसिक, व धार्मिक आदि स्वाभाविक विषमताओं के होने के बावजूद भी समस्त जीवों को समान और समस्त मानव समाज को परिवार मानते हुए अहिंसा का प्रयोग होता है। यही नहीं स्वाभाविक विशिष्ट विषम स्थिति में निहित विशिष्ट विशेषताओं को मानव परिवार के उपयोग के लिये लगाना अहिंसक रीति होती है। अर्थात्, अहिंसा उपयोगितावाद को नहीं स्वीकारती। अहिंसा कर्तव्योन्मुखी होती है, न कि अधिकारोन्मुखी। (गांधी, 1932 जून 25)

सत्य की प्राप्ति के लिये अहिंसा अनिवार्य है। अहिंसाविहीन स्थिति में सत्य की प्राप्ति असम्भव है। अहिंसा और सत्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। (गांधी, 1932 जून 25)

अहिंसा सबसे पहला धर्म व कर्म है। (गांधी, 1932 जून 25)

अहिंसा पालन का कर्तव्य सभी मानव का है, चाहे वे सामाजिक हों या महात्मा/सन्त हों, चाहे वे बाल अवस्था में हों या यौवन अवस्था में हों या वयस्क/बुजुर्गियत अवस्था में हों। (गांधी, 1932 जून 25)

अहिंसा सिर्फ कोरी कल्पना नहीं है, बल्कि अहिंसा आधारित आदर्श समाज संगठन करना सम्भव है। कारण? स्पष्ट है कि आत्मा, परमात्मा व मानवता की दृष्टि से मनुष्य अहिंसक ही है; पशुता की ही दृष्टि से मनुष्य अहिंसक नहीं है। (गांधी, 1932 जून 25)

अहिंसा पालन कैसे हो?

सर्प को मारें या नहीं? स्त्री के ऊपर बलात्कार हो रहा हो तब आक्रमणकारी को मारें या नहीं? खेत में जीव मरते हैं यह जानते हुए भी हल चलायें या नहीं? अहिंसा का उपासक इन प्रश्नों

को हल करने में न लगे। इन गुत्थियों को जब सुलझाना होगा तब वह अपने आप सुलझ जाएंगी, इस भुलावे में पड़ना अहिंसा को बिसर जाने के बराबर है। अहिंसा के पालन का जिसको उत्साह हो वह अपने अंतर में और अपने पड़ोसियों को देखे। अगर उसके मन में द्वेष भरा हो तो समझे कि वह अहिंसा की पहली सीढ़ी पर ही नहीं चढ़ा। अपने पड़ोसी, साथी के साथ वह अहिंसा का पालन न करता हो तो वह अहिंसा से हजारों कोस दूर है। (गांधी, 1932 जून 25)

इसलिए रोज सोते समय वह अपने-आप-से पूछे कि आज मैंने अपने साथी का तिरस्कार किया? उसको खराब खादी देकर खुद अच्छी ली? उसको कच्ची रोटी देकर खुद पकी हुई ली? अपने काम में चोरी करके साथी के ऊपर बोझ डाला? आज मेरा पड़ोसी बीमार था, उसकी तीमारदारी करने नहीं गया; प्यासे बटोहिया ने मुझसे पानी मांगा, मैंने नहीं दिया। मेहमान आए उनका नमस्कार से भी सत्कार नहीं किया; मजदूर का तिरस्कार किया, उसके ऊपर बिना विचारे काम लादता रहा; बैल को पैना मारता रहा। रसोई में भात कच्चा था इससे खीझा यह सारी बातें भारी हिंसा हैं। इस तरह नित्य के व्यवहार में हम स्वाभाविक रीति से अहिंसा का पालन न करें तो दूसरे विषयों में हम अहिंसा का पालन करने लायक ही नहीं होंगे, या दूसरी बातों में उसका पालन करते हों तो उसकी कीमत बहुत कम होगी या कुछ भी नहीं होगी। अहिंसा प्रतिक्षण काम करने वाली प्रचंड शक्ति है। उसकी परीक्षा हमारे प्रतिक्षण के कार्य में, प्रतिक्षण के विचार में हो रही है। जो कौड़ी की फिरक करेगा, उस की कोड़ी सलामत ही है; पर जिसने कौड़ी की परवाह नहीं की, उसने कौड़ी भी खोई और कोड़ी तो उसकी थी ही नहीं। (गांधी, 1932 जून 25)

अहिंसा पालन तब ही हो सकती है जबकि व्यक्ति कुछ ग्रहण कर ले। इन गुणों में बहुत आवश्यक और महत्व के हैं: आत्मबल, आत्मबलिदान, साहस, निर्दोषता, कष्टसहनशीलता, प्रेम, आत्मसंयम आदि। आत्मबल से आशय है, आत्मा का बल, आत्मा की शक्ति और मनुष्य की उच्चतर प्रकृति की शक्ति जो शारीरिक व पशुबल से अनन्त गुना अधिक शक्तिशाली होती है। पशुओं में आत्मा सुषुप्त अवस्था में रहती है। इस कारण से पशुओं में मुख्यतः शारीरिक बल, यानी शारीरिक शक्ति, यानी पशुबल ही काम करता है। किन्तु मनुष्य में आत्मा व परमात्मा को समझने की शक्ति होती है और इस कारण मनुष्य से अपेक्षा होती है कि वह आत्मा के बल, यानी आत्मा की शक्ति को पहचाने और उसका उपयोग करे। आत्मबल की स्वाभाविक माँग होती है, आत्मबलिदान करने की। आत्मबलिदान ही अहिंसक रीति है। कष्टसहनशीलता भी अहिंसा के व्यवहार में प्रयोग करें क्योंकि सक्रियरूप में अहिंसा का अर्थ है, जाग्रत रहकर कष्ट सहना। कष्ट सहने का मतलब यह नहीं है कि अत्याचारों के आगे झुक जाना, या अत्याचारों को सहना। कष्ट सहने की बात के साथ एक बात और जुड़ी है, और वो है कि अत्याचारों का सामना आत्मा की शक्ति, यानी आत्मबल (पशुबल/ हिंसा नहीं) से करना चाहिये। और इस

प्रकार आत्मबल से अत्याचारों का मुकाबला करने से अत्याचारों से मुक्ति मिलती है क्योंकि ऐसे मुकाबले में विरोधी में आत्मिक शक्ति जाग्रत हो जाती है और उसमें सत्य व न्याय की समझ उत्पन्न हो जाती है। (गांधी,1932 जून 25)

निर्दोष व कष्ट पीड़ित होने की स्थिति में साहस, निडरता, कष्ट सहते हुए, आत्मबल के प्रयोग करते, अत्याचारों का सामना अहिंसा द्वारा करने से विरोधी में क्रोध, भय और अहंकार के भाव मिटने लगते हैं तथा उसमें नये मूल्य ग्रहण करने की वृत्ति पैदा होती है, उसमें आत्म उत्थान होता है। विरोधी का नाश नहीं होता, बल्कि उसका उत्थान होता है। दूसरी ओर, आत्मबल और अहिंसा से अत्याचार का मुकाबला आत्मशुद्ध स्थिति में करने में, मुकाबला करनेवाले में विरोधी के दृष्टिकोण को, विरोधी की कमजोरियों और ताकतों को, विरोधी की मजबूरियों को तथा विरोधी के समक्ष उपलब्ध वैकल्पिक हलों को समझने की अधिक क्षमता उत्पन्न हो जाती है, और इस प्रकार समन्वित हल का रास्ता सुगम हो जाता है। अहिंसा पालन में कष्ट सहने का अर्थ कायरता भी नहीं होता है क्योंकि अहिंसा बहादुर लोगों का अस्त्र है, कायर अहिंसा का अस्त्र धारण ही नहीं कर सकते और वो लोग जिनमें मुकाबला करने की शक्ति नहीं होती है, वास्तव में वो अहिंसक नहीं हो सकते हैं। अतः अहिंसा कायरता या कायरता की निशानी नहीं है। गांधी के अनुसार, यदि भौतिक विज्ञानों का अधिकारी बनने के लिये सम्पूर्ण जीवन खपा देना पड़ता है, तो सर्वश्रेष्ठ आत्मिक शक्ति पर अधिकार प्राप्त करने के लिये कितने जीवन लग जायेंगे यह निश्चित नहीं है पर यदि इसीमें मानव कल्याण है, तो भी प्रयत्न इसके लिये किया जाय वह उचित है। (गांधी,1932 जून 25)

वस्तुओं के अधिक उपयोग से अहिंसा व्रत भंग होता है। यदि हम अस्तेय-भाव से इन वस्तुओं का उपयोग कम करें, तो हममें उदारता बढ़ेगी। यदि हम अहिंसा-भाव से उपयोग करें, तो दया भाव बढ़ेगा। यदि हम जीव-मात्र को अभय दें तो इसमें दया और प्रेम का भाव आता है। जो अपना भाव ऐसा बना लेगा, उससे कोई भी जीव स्वप्न में भी भेदभाव नहीं मानेगा। (सुजाता, 2012)

इस प्रकार निष्कर्षस्वरूप सर्वव्यापी व सार्वकालिक प्रेम को ही अहिंसा कहते हैं। अहिंसा सबसे पहला धर्म व कर्म है। आत्मा की शक्ति को अहिंसा की एक शक्ति कहते हैं या अहिंसा को मनुष्य की उत्तम प्रकार की एक शक्ति कहते हैं। अहिंसा आत्मबल की सूचक है। अहिंसा का भावनात्मकरूप प्रेम है। अहिंसा का उपयोग सभी के लिये किया जाता है; जीव-निर्जीव; और इसके अन्तर्गत भौगोलिक, ऐतिहासिक, मानसिक, व धार्मिक आदि स्वाभाविक भिन्नताओं को ध्यान में नहीं रखते हुए उनके साथ अहिंसा का ही व्यवहार करना चाहिये। अहिंसा उपयोगितावाद को नहीं स्वीकारती। अहिंसा कर्त्व्योन्मुखी होती है, न कि अधिकारोन्मुखी। सभी व्यक्तियों को अहिंसा का पालन करना उनका कर्त्व्य है, भले ही व्यक्ति सामाजिक हों यामहात्मा/सन्त हों, चाहे वे बाल अवस्था में हों या यौवन अवस्था में हों या वयस्क/बुजुर्गियत

अवस्था में हों। आत्मा, परमात्मा व मानवता की दृष्टि से मनुष्य अहिंसक ही है; पशुता की ही दृष्टि से मनुष्य अहिंसक नहीं है। अहिंसा पालन सम्भव व निश्चित करने के लिये इन गुणों को अपने अन्दर बनाना चाहिये:—आत्मबल, आत्मबलिदान, साहस, निर्दोषता, कष्टसहनशीलता, प्रेम, आत्मसंयम आदि।

2. ब्रह्मचर्य।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है, ब्रह्म की, यानी सत्य की, खोज में आचार व्यवहार करना। इसके अनुसरण में यदि शादीशुदा/विवाहित लोग अविवाहित जैसे बन जाए, तो अहिंसा का पालन आसानी से हो सकता है। लेकिन यहकैसे संभव हो?यह सत्य है कि शरीर आसानी से काबू में रह सकता है, लेकिन मन नहीं रहता और इसलिए व्यक्ति को शरीर को तुरंत वश में करके अपने मन को वश में करने की हमेशा कोशिश करते रहना चाहिए ताकि वह अपना फर्ज अदा कर सकें। क्योंकि जब व्यक्ति मन के वश में होता है तो शरीर और मन का झगड़ा शुरू होता है और मिथ्याचार आ जाता है। इसलिए जब तक लोग मन के विकार को दबाते रहेंगे, तब तक शरीर और मन दोनों साथ-साथ चलेंगे और इस प्रकार ब्रह्मचर्य (यानी ब्रह्म की, यानी सत्य की खोज में आचार व्यवहार करना) संभव है। (गांधी, 1958)

सारांश में यह कह सकते हैं कि इंद्रियों का संयम करके हम ब्रह्म सत्य की खोज में लगे रह सकते हैं। (गांधी, 1958)

इस प्रकार निष्कर्षस्वरूपब्रह्मचर्य का अर्थ है, ब्रह्म की, यानी सत्य की खोज में आचार व्यवहार करना।शरीर आसानी से काबू में रह सकता है, लेकिन मन नहीं रहता और इसलिए व्यक्ति को शरीर को तुरंत वश में करके अपने मन को वश में करने की हमेशा कोशिश करते रहना चाहिए।इंद्रियों का संयम करके हम ब्रह्म सत्य की खोज में लगे रह सकते हैं।

3. अस्वाद।

अस्वाद का अर्थ यह है कि स्वाद नहीं लेना, स्वाद में रुचि नहीं रखना, स्वाद लेने की इच्छा नहीं रखना, रस—मजा नहीं लेना। (गांधी, 1958)

जिस प्रकार दवा खाते वक्त यह ख्याल नहीं करते कि वह दवा मजेदार है या स्वादहीन है या रस—मजायुक्त नहीं है और फिर भी शरीर को उसकी जरूरत के हिसाब से उचित मात्रा में ही हम उस स्वादहीन दवा को खाते हैं। उसी तरह हमें अन्न खाना चाहिए। अन्न में खाने लायक तमाम चीजें निहित है— जैसे दूध और फल आदि। जिस प्रकार दवा कम मात्रा में यदि ली जाए तो असर नहीं करती या कम असर करती है और यदि ज्यादा मात्रा में ली जाए तो नुकसान करती है, ठीक उसी तरह का व्यवहार खाने—पीने की तमाम चीजों से होता है। इसलिए कोई भीचीज सिर्फ स्वाद के लिए नहीं खाना चाहिए, क्योंकि इससे अस्वाद व्रत भंग होता है।

जायकेदार लगने वाली चीज ज्यादा खाने से तो अस्वाद व्रत आसानी से टूट जाता है। इसी तरह किसी चीज का स्वाद बढ़ाने या बदलने के लिए या स्वाद बढ़ाने के लिए उसमें नमक मिलाना भी अस्वाद व्रत तोड़ना है— किंतु खुराक में जितनी मात्रा में नमक की शरीर के लिए जरूरत है उसमें उतनी ही मात्रा में यदि नमक डालें तो ऐसा करने में अस्वाद व्रत टूटता नहीं है। (गांधी, 1958)

शरीर के पोषण के लिए जरूरत न हो फिर भी मन के चाहने पर कोई चीज को खाने वाले पदार्थ में जोड़ना तो अत्याचार/झूठ का व्यवहार है, अस्वाद व्रत का तोड़ना है। (गांधी, 1958)

यदि पका हुआ खाना हो और शरीर संधारण/संरक्षण/स्वस्थता के लिए त्यागने लायक न हो, तो उसे ईश्वर की कृपा समझकर बिना मीन-मेख के और बिना मन की बात मानते हुए संतोष के साथ खाना चाहिए— किंतु उतना जितना कि शरीर के लिए जरूरी हो। ऐसा करने से आसानी से अस्वाद व्रत का पालन होता है। (गांधी, 1958)

इस प्रकार निष्कर्षस्वरूप अस्वाद का अर्थ यह है कि स्वाद नहीं लेना, स्वाद में रुचि नहीं रखना, स्वाद लेने की इच्छा नहीं रखना, रस-मजा नहीं लेना। खुराक में जितनी मात्रा में नमक की शरीर के लिए जरूरत है उसमें उतनी ही मात्रा में यदि नमक डालें तो ऐसा करने में अस्वाद व्रत टूटता नहीं है। यदि पका हुआ खाना हो और शरीर संधारण/संरक्षण/स्वस्थता के लिए त्यागने लायक न हो, तो उसे ईश्वर की कृपा समझकर बिना मीन-मेख के और बिना मन की बात मानते हुए संतोष के साथ खाना चाहिए— किंतु उतना जितना कि शरीर के लिए जरूरी हो।

4. अस्तेय।

अस्तेय नियम भी सत्य में समाया है। (गांधी, 1958)

अस्तेय का अर्थ है, चोरी न करना। जो व्यक्ति चोरी करता है, वह सत्य को नहीं जानता है और प्रेम धर्म का पालन नहीं करता है। (गांधी, 1958)

इजाजत के बिना किसी की कोई वस्तु लेना भी चोरी है। ऐसा मान कर कि अमुक वस्तु किसी की भी नहीं है, उस वस्तु को लेना भी चोरी है। अर्थात्, रास्ते में लावारिस मिली वस्तु के भी हम मालिक नहीं हैं। कोई वस्तु जिसके कब्जे में हो उसकी इजाजत के बिना लेना चोरी है। यदि कोई वस्तु की हमें जरूरत नहीं है फिर भी उस वस्तु का लेना चोरी है; भले ही वह वस्तु जिसके कब्जे में हो उसकी इजाजत लेकर ही ली गई हो। जिस वस्तु की जरूरत न हो, ऐसी एक भी वस्तु हमें नहीं लेनी चाहिए। उदाहरण बतौर:— यदि हमें किसी फल की जरूरत नहीं है फिर भी हम उसे खाते हैं या चाहते हैं या जरूरत से ज्यादा खाते हैं तो ऐसा करना भी चोरी है। (गांधी, 1958)

देखा जाता है कि यह हम हमेशा नहीं जानते हैं कि हमारी जरूरत कितनी है और लगभग हम सभी जरूरत से ज्यादा अपनी जरूरतें रखते हैं और इस कारण हम अनजाने में चोर बन जाते हैं। हम विचार करके अपनी बहुत सी जरूरतें कम कर सकते हैं। ऐसा अस्तेय व्रत पालन करने वाला करता है और वह एक के बाद एक अपनी जरूरतें कम करता जाता है। (गांधी, 1958)

संसार में बहुत सी कंगाली अस्तेय के पालन नहीं करने से पैदा हुई हैं। चोरी मानसिक, मन से की जाने वाली होती है और इस कारण इससे आत्मा नीचे गिरती है। मन से हम किसी की चीज पाने की इच्छा करें या उस पर बुरी नजर डाले, तो यह भी चोरी ही है। अच्छी चीज देखकर ललचाना भी मन की चोरी है। आज जो वस्तु सिर्फ ख्याल में ही है उसे भविष्य में पाने के लिए प्रयत्न करना अस्तेय व्रत का तोड़ना है, क्योंकि उसके लिए कल हम उसे पाने के लिये भले बुरे उपाय करना शुरू कर देंगे। (गांधी, 1958)

विचार की चोरी भी होती है। कोई अच्छा विचार अपने मन में न उठा हो, फिर भी उसे अपना विचार कह कर दूसरों के सम्मुख प्रस्तुत करना भी चोरी है।

इस प्रकार निष्कर्षस्वरूप अस्तेय का अर्थ है, चोरी न करना। जो व्यक्ति चोरी करता है, वह सत्य को नहीं जानता है और प्रेम धर्म का पालन नहीं करता है। इजाजत के बिना किसी की कोई वस्तु लेना भी चोरी है। ऐसा मान कर कि अमुक वस्तु किसी की भी नहीं है, उस वस्तु को लेना भी चोरी है। कोई वस्तु की हमें जरूरत नहीं है फिर भी उस वस्तु का लेना चोरी है; भले ही वह वस्तु जिसके कब्जे में हो उसकी इजाजत लेकर ही ली गई। हम विचार करके अपनी बहुत सी जरूरतें कम कर सकते हैं। ऐसा अस्तेय व्रत पालन करने वाला करता है। मन से हम किसी की चीज पाने की इच्छा करें या उस पर बुरी नजर डाले, तो यह भी चोरी ही है। अच्छी चीज देखकर ललचाना भी मन की चोरी है। आज जो वस्तु सिर्फ ख्याल में ही है उसे भविष्य में पाने के लिए प्रयत्न करना अस्तेय व्रत का तोड़ना है। विचार की चोरी भी होती है।

5. अपरिग्रह।

अपरिग्रह नियम भी सत्य में समाया है। (गांधी, 1958)

परिग्रह का अर्थ है, संचय, अर्थात् इकट्ठा, करना। (गांधी, 1958)

सत्य की पालना करने वाला और अहिंसा का पालन करने वाला व्यक्ति परिग्रह कर ही नहीं सकता। यदि सभी लोग सिर्फ अपनी अपनी जरूरत की चीजों का संग्रह करें, तो किसी को किसी भी वस्तु की कमी कभी भी महसूस होगी ही नहीं और सब को संतोष भी होगा। इसके लिए अमीरों को पहल करनी चाहिए। हम सभी को इस आदर्श को दिमाग में रखकर अधिक-से-अधिक जितना भी हो सके हमेशा अपने परिग्रह की जाँच करते रहना चाहिए और परिग्रह को कम करते रहना चाहिए। (गांधी, 1958)

वास्तव में तो सोच समझ कर और अपनी इच्छा से परिग्रह कम करना सही सुधार तथा सच्ची सभ्यता का लक्षण है। जैसे-जैसे व्यक्ति परिग्रह घटाते जाते हैं, वैसे-वैसे उनमें सच्चा-सुख और सच्चा-संतोष बढ़ता जाता है, और उनकी सेवा करने की शक्ति बढ़ती जाती है। (गांधी, 1958)

मानव शरीर भी परिग्रह है, यदि हम सत्य/आत्मा की नजर से सोचें। भोग की इच्छा से हमने शरीर का चोला पहन रखा है और टिकाए रखे हैं। यदि हममें यह भोग की इच्छा बिल्कुल कम हो जाए, तो हमारे शरीर की जरूरतें नहीं रहेंगी और इस प्रकार हमें नए शरीर के लेने की जरूरत नहीं रहेगी। यदि यह सोचते हुए हम अंतिम त्याग तक पहुँच जाते हैं और शरीर का प्रयोग सिर्फ दूसरों की सेवा करने के लिए ही करना सीखते हैं जब तक कि शरीर है (इस हद तक कि सेवा ही शरीर की असली खुराक हो)। शरीर खाते, पीते, लेटे, बैठे, जागते, सोते सिर्फ दूसरों की सेवा करने के लिए है – ऐसा करने से पैदा होने वाला सुख ही सच्चा-सुख है। जब ऐसा करते हैं तो हमें अंत में सत्य के दर्शन होते हैं। हम सबको परिग्रह के बारे में इसी तरह व्यवहार करना चाहिए। (गांधी, 1958)

हमें वस्तुओं का ही नहीं विचारों का भी अपरिग्रह करना चाहिए। (गांधी, 1958)

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि किसी को भी वर्तमान में प्राकृतिक जरूरत से ज्यादा वस्तु/पदार्थ/विचार आदि एकत्र नहीं करना चाहिये। यदि सभी लोग सिर्फ अपनी अपनी जरूरत की चीजों का संग्रह करें, तो किसी को किसी भी वस्तु की कमी कभी भी महसूस होगी ही नहीं और सब को संतोष भी होगा। मानव शरीर भी परिग्रह है, यदि हम सत्य/आत्मा की नजर से सोचें। भोग की इच्छा से हमने शरीर का चोला पहन रखा है और टिकाए रखे हैं। यदि हममें यह भोग की इच्छा बिल्कुल कम हो जाए, तो हमारे शरीर की जरूरतें नहीं रहेंगी। शरीर का प्रयोग सिर्फ दूसरों की सेवा करने के लिए ही करना सीखते हैं जब तक कि शरीर है (इस हद तक कि सेवा ही शरीर की असली खुराक हो)। शरीर खाते, पीते, लेटे, बैठे, जागते, सोते सिर्फ दूसरों की सेवा करने के लिए है – ऐसा करने से पैदा होने वाला सुख ही सच्चा-सुख है।

6. अभय।

अभय का नियम भी सत्य में समाया है। (गांधी, 1958)

अभय का अर्थ है बाहरी तमाम डरों का न होना। उदाहरण स्वरूप, मौत का डर, धन-दौलत-संपदा लुट जाने का डर, परिवार-कुटुंब के बारे में भय, रोग का भय, हथियार चलने का भय, इज्जत लूटने का भय, किसी को बुरा लगाने का/चोट पहुँचाने का भय आदि। (गांधी, 1958)

वैसे काम, क्रोध आदि दोषों का डर सच्चा डर है। यदि हम इन डरों को जीत लें, तो बाहरी अनेक डर अपने आप मिट जाएंगे। (गांधी, 1958)

बहुत से डर शरीर को लेकर हैं। अगर शरीर की ममता छूट जाए तो आसानी से डरविहीन स्थिति प्राप्त हो जाए। अर्थात्, यह सारे-के-सारे डर हमारे विचारों की पैदाईस हैं। (गांधी, 1958)

डरों को दूर रखने का सरल रास्ता है कि हम स्वामी बन कर नहीं रहने के बजाय सेवक बन कर रहें, कुछ नहीं हो कर रहें, तो सरलता से तमाम डरों को जीत लेंगे, सरलता से शांति प्राप्त कर लेंगे और सत्य-नारायण का दर्शन करेंगे। (गांधी, 1958)

पृथ्वी इस विश्व मंडल में कण समान है। उस कण के ऊपर हम देहरूप में तुच्छकण हैं। हम एक बिल में रहने वाली चींटियों को गिनने में असमर्थ हैं। चींटी से छोटे जंतुओं को तो हम देख भी नहीं सकते। विराट पुरुष के सामने तो हम अदृश्य जंतु से भी अधिक छोटे हैं। इससे इस देश को जो क्षणभंगुर कहा है वह अक्षरशः सत्य है। उसका मोह क्या? उसके लिए एक भी प्राणी को हम क्यों दुःख दें? काँच से भी कमजोर जरा सी चोट से टूट जाने वाली देह को बनाए रखने के लिए इतना उपद्रव क्यों मचाएं? मौत के अर्थ है इस देश से जीव का उड़ जाना। इस मौत का डर किसलिए? उसका क्षण दूर रखने के लिए यह महाप्रपंच क्यों? इन बातों पर फिर-फिर विचार कर छोटे-बड़े सब दिल से मौत का डर निकाल दें और देह में रहकर, जब तक वह रहे तब तक सेवा के कार्य में उसे घिस डालें। ऐसी तैयारी करने की शक्ति हममें आए, इसके लिए नित्य गीता के दूसरे अध्याय के अंतिम उन्नीस श्लोक हमें रटने चाहिए। उनकी रटन दिल से हो तो जो चाहिए वह उसमें मौजूद है। (गांधी, 1932 मई 30)

कायर बहुत बार बिना मौत ही मरते हैं। रोग के भय से जितने आदमी मरते हैं, खुद रोग से उतने नहीं मरते। (सुजाता, 2012)

हिंदू लेखक पूछते हैं कि जो गाय हमारे लिए प्राण समान प्रिय है और मुस्लिम उसको मारने वाले हैं, तो मुस्लिम के साथ प्रेम किस तरह हो सकता है? ईसाई पूछते हैं कि अस्पृश्यता को मानने वाले हिंदुओं के साथ किस तरह प्रेम करें? मुसलमान पूछता है कि बुतपरस्त हिंदुओं के साथ मोहब्बत कैसे हो सकती है? उन सभी से मेरा यह कहना है कि आपका बंधुत्व बेकार है यदि आप अपने वर्णित इन लोगों को नहीं चाह सकते हैं। आपके इस तिरस्कार भाव के अर्थ हैं, भय या सहिष्णुता। यदि हम सब एक ही ईश्वर की संतान हैं, तो हम एक दूसरे से क्यों डरें, अथवा अपने से भिन्न मत रखने वाले से द्वेष क्यों करें? पर जिस कृत्य से हम घृणा करते हों, वह क्या किसी मुसलमानको करने दें? मेरा बंधुवर उत्तर देता है, 'हां'। और उसमें इतनी बात अधिक जोड़ता हूँ, 'आप अपने को कुर्बान कर दीजिए। जो वस्तु आपको प्रिय हो, यदि आप उसकी रक्षा करना चाहते हो तो आप बिना किसी पर हाथ उठाए उसके लिए मर जाइए।' जिसके प्रति आपके मन में तिरस्कार हो, उसके साथ लड़कर मर जाने के डर से बैठे रहने की अपेक्षा तो लड़ लेना अच्छा है। कायरता और बंधुत्व परस्पर विरोधी हैं। संसार शत्रु के साथ प्रीतिकरने की बात को स्वीकार नहीं करता। यदि शत्रु को चाहने का सिद्धांत स्वीकार न करें,

तो बंदूक की बातें करना हवा मेंमहल बनाना है। हमें अपने मनुष्यत्व का पूरा ज्ञान नहीं है, और इसी से वैर नहीं छोड़ा जाता। डार्विन के अनुसार हम बंदर के वंशज हैं। यदि यह सच हो तो हम अब भी मनुष्य की दशा प्राप्त नहीं कर पाए हैं। इस पशुत्व को मिटाने के लिए मनुष्य को भय छोड़ने की आवश्यकता है। डर अपने अंदर बल उत्पन्न करके दूर किया जा सकता है, हथियार से सुसज्जित होकर नहीं। महाभारत में वीर का भूषण अथवा वीर का गुण क्षमा बताया गया है। (गांधी, 1915 अगस्त 27)

इस प्रकार निष्कर्षस्वरूपअथात् बाहरी भयों/डरों से ग्रसित न होना। अन्दर की चीजों में काम, क्रोध आदि दोषों का डर सच्चा डर है। यदि हम इन डरों को जीत लें, तो बाहरी अनेक डर अपने आप मिट जाएंगे। बहुत से डर शरीर को लेकर हैं। अगर शरीर की ममता छूट जाए तो आसानी से डरविहीन स्थिति प्राप्त हो जाए। डरों को दूर रखने का सरल रास्ता है कि हम स्वामी बन कर नहीं रहने के बजाय सेवक बन कर रहें, कुछ नहीं हो कर रहें।

7. अछूतपन मिटाना।

सभी जीवमात्र के लिए पूरा प्रेम। अछूतपन मिटाने का भी यही अर्थ है। सभी प्राणीमात्र के साथ भेद-भाव मिटाना अछूतपन मिटाना ही है। (गांधी, 1958)इस प्रकार निष्कर्षस्वरूप अछूतपन मिटाने का अर्थ है सभी जीवमात्र के लिए पूरा प्रेम।

8. शारीरिक मेहनत।

जात-मेहनत का अर्थ है, रोटी के लिए मजदूरी करना। जीवनयापन के लिए हर मनुष्य को मजदूरी करनी चाहिए, शारीरिक मेहनत करनी चाहिए। जो व्यक्ति मजदूरी नहीं करता, उसे खाने का कोई अधिकार नहीं है। बाइबल के अनुसार 'अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमा और खा'। (गांधी, 1958)

किसान की नकल यदि बाकी के दस प्रतिशत लोग करें, तो संसार में असीम सुख-शांति-तंदुरुस्ती फैल जाए। और दूसरी ओर, यदि किसानों को बुद्धि मिल जाए, तो ढेर-सारी मुसीबतें आराम से दूर हो जाएंगी। जात-मेहनत की सब लोग द्वारा अनुपालना करने से ऊँच-नीच का भेद-भाव मिट जाएगा, मालिक-मजदूर का भेद-भाव खत्म हो जाएगा और गरीब-अमीर का भेद-भाव खत्म हो जाएगा। और यदि अमीर वर्ग रहा, तो वह खुद को अपने धन-संपदा आदि का मालिक नहीं समझते हुए उस धन-संपदा आदि का रखवाला समझकर या ट्रस्टी समझकर रहेगा और उसके धन का अधिकतर उपयोग सिर्फ दूसरों की सेवा के लिए ही करेगा। (गांधी, 1958)

साधु

‘साधु’ शब्द का सच्चा अर्थ तो यह है कि जिस का हृदय साधु या पवित्र हो। धनवान लोग यह समझते हैं कि झोली वालों की झोली में थोड़े बहुत पैसे डाल दिए, बस परोपकार हो गया और पुण्य कमा लिया। वास्तविकता यह है कि ऐसा करने में उपकार के बदले अपकार और धर्म के स्थान पर अधर्म होता है व पाखंड बढ़ता है। दूसरी ओर छप्पन लाख नामधारी साधु हैं, जो सेवा का काम नहीं करते और उद्योग नहीं करते हैं, तथा गेरुआ वस्त्रधारी लोग हैं— ऐसे लोगों के भी तीन प्रकार हो हैं। पहला, एक बहुत बड़ा भाग, पाखंडी और केवल आलसी बनकर मालपुआ खाने की इच्छा रखता है। दूसरे, भाग में कुछ जड़ है और यह मानते हैं कि भगवा वस्त्र और परिश्रम ये दोनों बातें आपस में मेल नहीं खाती। तीसरे भाग में कुछ लोग हैं (इस भाग में कम लोग और सच्चे त्यागी हैं), किंतु यह लोग बहुत समय से यही समझते चले आए हैं कि सन्यासी से परोपकार के लिए भी उद्योग नहीं हो सकता। बहुत अच्छा हो यदि यह तीसरा छोटा भाग उद्योग का मूल्य समझ जाए, तो, भूतकाल में चाहे जो भी हुआ हो, इस युग में संयासी को उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उद्योग करना आवश्यक है। यदि यह बात यह छोटा वर्ग समझ जाए, तो दूसरे दोनों वर्ग भी सुधर जाएंगे। किंतु इस वर्ग को ऐसा समझाना बहुत कठिन है। कार्य धैर्य से और उस वर्ग के अनुभव प्राप्ति के साथ होगा। (गांधी, 1926 अगस्त 5)

धनिक लोग यदि अपना धर्म समझ जाएं, आलस्य को उत्तेजना न दें, और उन भिखारियों को अन्न नहीं देकर उद्यम करना सिखा दें, तो चरखे का साम्राज्य आज ही स्थापित हो जाए। किंतु धनिक लोगों से ऐसी आशा क्यों की जाए? धनिक लोग औरों के मुकाबले में साधारणतया आलसी रहा करते हैं और आलस्य को उत्तेजना तो देते ही हैं। धनवानों से, जाने या अनजाने, आलसी भिक्षुओं को उत्तेजना मिल जाती है। हम प्रयत्न नहीं करें, ऐसा नहीं है, बल्कि प्रयत्न करते ही रहना चाहिए। यदि एक भी धनवान व्यक्ति समझ-बूझ कर आलसी लोगों को दान देना बंद कर दें, और यदि एक ही साधु जो अपंग नहीं है उद्यम के बिना भोजन नहीं करने का संकल्प कर ले, तो भी हिंदुस्तान का लाभ ही है। तात्कालिक फल न मिलने से निराश न होने पाए और अपने साधन को हम निरर्थक न समझें। (गांधी, 1926 अगस्त 5)

श्रम करना प्रभु की आराधना करना है। जो श्रम किए बिना खाता है, वह पाप खाता है। श्रम किए बिना खाने वाला सचमुच चोर है। (सुजाता, 2012)

केवल संस्कार के कारण कोई उन्नति नहीं कर सकता। पुरुषार्थ के बिना उन्नति असंभव है। जो आलस्यवश लिखते-पढ़ते नहीं, वह अवश्य मूढ़ माने जाएंगे, लेकिन जो व्यर्थ ही पढ़ते रहते हैं और विचार नहीं करते वह भी लगभग मूर्ख ही रहते हैं। (सुजाता, 2012)

शुभ प्रयत्न कभी बेकार नहीं जाते और मनुष्य की सफलता तो उसके शुभ प्रयत्न में ही है। परिणामों का मालिक तो सिर्फ ईश्वर ही है। (सुजाता, 2012)

इस प्रकार निष्कर्षस्वरूप उद्यम के बिना भोजन नहीं करने का संकल्प कर लें। श्रम करना प्रभु की आराधना करना है। जो श्रम किए बिना खाता है, वह पाप खाता है। श्रम किए बिना खाने

वाला सचमुच चोर है। केवल संस्कार के कारण कोई उन्नति नहीं कर सकता। पुरुषार्थ के बिना उन्नति असंभव है।

9. नम्रता।

सत्य के अंदर अहिंसा होती है, और अहिंसा के अंदर स्वतः नम्रता आ ही जाती है। (गांधी, 1958)

नम्रता का अर्थ है, 'मैं' का समूल नष्ट होना। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, जात-मेहनत, सर्वधर्म-समभाव आदि व्रतों व नियमों को सही ढंग से समझने से और उनकी अनुपालना करने से नम्रता स्वतः व्यक्तियों में व्याप्त हो जाती है। (गांधी, 1958)

नम्रता को ऐसे भी समझ सकते हैं, तीव्रतम पुरुषार्थ, सख्त-से-सख्त मेहनत, दूसरे सभी लोगों की सेवा करने के लिए होना चाहिए। हमारी सच्ची नम्रता हमसे माँग करती है कि हम समस्त प्राणिमात्र की सेवा करने के लिए सब कुछ न्यौछावर कर दें। (गांधी, 1958)

इस प्रकार निष्कर्षस्वरूपनम्रता का अर्थ है, 'मैं' का समूल नष्ट होना। तीव्रतम पुरुषार्थ, सख्त-से-सख्त मेहनत, दूसरे सभी लोगों की सेवा करने के लिए होना चाहिए। हमारी सच्ची नम्रता हमसे माँग करती है कि हम समस्त प्राणिमात्र की सेवा करने के लिए सब कुछ न्यौछावर कर दें।

10. स्वदेशी।

स्वदेशी का गूढ़ अर्थ है कि समस्त स्थूल, यानी सांसारिक संबंधों से छुटकारा होना। (गांधी, 1958)

ऐसी दशा में व्यक्ति के लिए शरीर भी परदेशी होता है और दूसरे सभी प्राणिमात्र के साथ एकता रखते हुए इस स्वदेशी धर्म को जानने वाला और पालने वाला व्यक्ति शरीर को भी छोड़ देता है। ऐसा व्यक्ति अपने पास के लोगों की सेवा में लगा रहता है, ऐसा व्यक्ति यह सोचता है कि स्वदेशी का पालन करते हुए यदि मौत भी हो जाए तो भी अच्छा है। (गांधी, 1958)

इस प्रकार निष्कर्षस्वरूपस्वदेशी का गूढ़ अर्थ है कि समस्त स्थूल, यानी सांसारिक संबंधों से छुटकारा होना। ऐसी दशा में व्यक्ति के लिए शरीर भी परदेशी होता है और दूसरे सभी प्राणिमात्र के साथ एकता रखते हुए इस स्वदेशी धर्म को जानने वाला और पालने वाला व्यक्ति शरीर को भी छोड़ देता है।

11. सर्वधर्म समभाव।

हमने पूर्ण सत्य को देखा नहीं है, इसलिए ही सत्य का आग्रह करते हैं। यदि पूर्ण सत्य को देखा होता तो हम परमेश्वर हो जाते। इसलिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है, इसलिए इसमें हमारी अपूर्णता जाहिर है और इसलिए यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारी कल्पना का / बनाया गया धर्म भी अपूर्ण ही है। (गांधी, 1958)

संसार के लोगों द्वारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उनमें हमेशा हेरफेर/बदलाव होते रहते हैं और आगे भी होते रहेंगे। तभी तो हम निरंतर ऊपर उठ सकते हैं—अर्थात्, सत्य की ओर, ईश्वर की ओर निरंतर दिन—पर—दिन आगे बढ़ सकते हैं। और इस प्रकार यदि लोगों द्वारा माने हुए और बनाए हुए सभी धर्मों को हम अपूर्ण माने तो फिर अच्छे—बुरे और ऊँचा—नीचा का भेदभाव ही नहीं रहता है। (गांधी, 1958)

इससे यह अर्थ निकलता है कि सब धर्म सच्चे हैं, किंतु सभी धर्म अपूर्ण हैं इसलिए उनमें दोष हो सकते हैं। सभी धर्मों के प्रति समभाव होने पर भी हम उनमें (सब धर्मों में) दोष देख सकते हैं, अपने धर्म में भी। किन्तु, इन दोषों के कारण अपने धर्म को हमें छोड़ नहीं देना चाहिए, बल्कि उसके दोषों को दूर करते रहना चाहिए। यदि इस तरह हम सभी धर्मों के बारे में सोचे तो दूसरे धर्मों में से जो कुछ लेने लायक हो उसे अपने धर्म में जगह देने में हमें हिचकिचाहट नहीं होगी और ऐसा करना हम अपना फर्ज समझेंगे। (गांधी, 1958)

सब धर्म मनुष्य की कल्पना के धर्म हैं, मनुष्य उसे अपनी भाषा में लिखता है, बनाता है, और उसका अर्थ भी मनुष्य ही करता है। सब अपनी दृष्टि से सच्चे हैं, किन्तु गलती होना भी संभव है। इसीलिए हमें सब धर्मों को एक समान भाव से देखना चाहिए। ऐसा करने से अपने धर्म के प्रति हममें लापरवाही नहीं आती और साथ—ही—साथ अपने धर्म के लिए हमारा जो प्रेम है वह अंधा नहीं होकर ज्ञानमय बनता है और इसलिए वह ज्यादा—से—ज्यादा निर्मल बनता है। (गांधी, 1958)

जब हमारा सब धर्मों की ओर समभाव हो, तभी हमारे दिव्य चक्षु खुलेंगे। धर्माधता में और दिव्य—दर्शन में उत्तर—दक्षिण का अंतर है। गांधी ने संसार के तमाम धर्मों— ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, यहूदी धर्म और हिंदू धर्म आदि— की पुस्तकें पढ़ी और जानकारी प्राप्त की। उनकी पुस्तकों को धर्म की पुस्तकें समझकर वह आदर से पढ़ते थे और सब में मूल नीति एक से ही दिखती थी। कुछ बातें उनकी समझ में नहीं आती थी। किंतु उनका अनुभव था कि जिसे किसी वक्त यदि कोई समझ न सके, तो उसे वह गलत मान ले— ऐसा मानने की जल्दबाजी करना भूल है। जो कुछ पहले उनकी समझ में नहीं आया था, वह बाद में समझ में साफ—साफ आ गया। तो बात यह है कि अपने अंदर समभाव बढ़ाने से बहुत सी गुथियाँ अपने—आप सुलझ जाती हैं।

और जहाँ हम दोष ही दिखाई दें, तो वहाँ उसे दिखाने में भी जो नम्रता और विनय हममें होता है उसके कारण किसी को दुःख नहीं होता और यदि हममें सच्ची—अहिंसा हो, तो हम बैर—भाव से बच जाते हैं— क्योंकि अधर्म को देखते हुए भी अधर्म आचरण करने वाले के लिए तो हमारे

मन में प्रेम भाव ही होगा और इसलिए या तो दूसरा व्यक्ति हमारी दृष्टि को अपनाएगा या हमारी गलती हमें बताएगा या हम दोनों एक दूसरे के मतभेद को सहन करेंगे। और सामने वाला व्यक्ति यदि अहिंसक नहीं होगा तो वह सख्ती करेगा, किंतु यदि हम अहिंसा के पुजारी हैं तो हमारी नरमी उसकी सख्ती को दूर करेगी।

दूसरों की गलती की वजह से भी हमें उन्हें दुःख नहीं देना चाहिए; बल्कि खुद ही दुःख उठाना चाहिए। जो व्यक्ति इस सुनहरे नियम का पालन करता है, वह व्यक्ति सभी संकटों को पार कर जाता है। (गांधी, 1958)

धर्म का वास्तविक रूप क्या है और उद्देश्य क्या है?

निसंदेह यह सच है कि आजकल देश में धार्मिक शिक्षा का आभाव है। शिक्षा धर्म-पालन द्वारा ही दी जा सकती है; कोरे पांडित्य द्वारा कदापि नहीं। (गांधी, 1929 अगस्त १५) उच्च-से-उच्च विचार, अर्थात् विश्वास और उसका उच्च-से-उच्च आचार। यह धर्म का अर्थ है: 'यतो धर्मस्ततो जयः'। (गांधी, 1924, अप्रैल 27)

क्या सत्संगति मनुष्य के लिए कुछ कर सकती है?

तुलसीदास ने सत्संग की महिमा का वर्णन किया है। इसका यह अर्थ यह नहीं है कि धार्मिक पुस्तकों का पठन-पाठन अनावश्यक है, किन्तु इसकी आवश्यकता तब ही होती है जब मनुष्य को सत्संग प्राप्त हो, और कुछ हद तक शुद्ध भी बन चुका हो। यदि इससे पहले धर्म पुस्तकों का पठन-पाठन शुरू किया जाता है, तो शांतिप्रद होने के बदले उसका बंधन बन जाना अधिक संभव है। (गांधी, 1929 अगस्त १५)

इस प्रकार निष्कर्षस्वरूप हमने पूर्ण सत्य को देखा नहीं है, इसलिए ही सत्य का आग्रह करते हैं। यदि पूर्ण सत्य को देखा होता तो हम परमेश्वर हो जाते। यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारी कल्पना का / बनाया गया धर्म भी अपूर्ण ही है। यदि लोगों द्वारा माने हुए और बनाए हुए सभी धर्मों को हम अपूर्ण माने तो फिर अच्छे-बुरे और ऊँचा-नीचा का भेदभाव ही नहीं रहता है। सब धर्म सच्चे हैं, किंतु सभी धर्म अपूर्ण हैं इसलिए उनमें दोष हो सकते हैं। सभी धर्मों के प्रति समभाव होने पर भी हम उनमें (सब धर्मों में) दोष देख सकते हैं, अपने धर्म में भी। दूसरों की गलती की वजहसे भी हमें उन्हें दुःख नहीं देना चाहिए; बल्कि खुद ही दुःख उठाना चाहिए। जो व्यक्ति इस सुनहरे नियम का पालन करता है, वह व्यक्ति सभी संकटों को पार कर जाता है। उच्च-से-उच्च विचार, अर्थात् विश्वास और उसका उच्च-से-उच्च आचार। यह धर्म का अर्थ है: 'यतो धर्मस्ततो जयः'।

3.3

शोध प्रश्न-2: 'नीति शिक्षा' क्या 'धर्म शिक्षा' का पर्याय है?

पूर्व अनुच्छेदों, क्रमांक 3.1.2 से 3.1.4, में वर्णित नीति, शिक्षा और नीति शिक्षा पर व्याख्या, विवेचन व निष्कर्ष की (विश्वविद्यालय नियम में आंशिक पुनरावृत्ति भी अनुज्ञेय न होने के कारण) पुनरावृत्ति नहीं की जा रही है, किंतु उक्त विवेचन व निष्कर्ष को इस प्रश्न के उत्तर के लिए अपरिहार्य आवश्यकता होने के कारण इस प्रश्न के उत्तर का अंग व आधार मानते हुए इस प्रश्न के संबंध में आगे का विवेचन व निष्कर्ष का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

धर्म का अर्थ

धर्म के आचार्य दंभी और स्वार्थी मालूम होते हैं। उनके पास पहुँच कर हमें नम्र भाव से उन्हें समझाना होगा। उसकी कुंजी मुल्लों, दस्तूरों और ब्राह्मणों के हाथ में है। लेकिन उनमें अगर सदबुद्धि पैदा न हो, तो...हम लोगों को नीति की शिक्षा दे सकते हैं। यह कोई बहुत मुश्किल बात नहीं है। हिन्दुस्तानी सागर के किनारे पर ही मैल जमा है। उस मैल से जो गंदे हो गये हैं उन्हें साफ होना है। हम लोग ऐसे ही हैं और खुद ही बहुत कुछ साफ हो सकते हैं। (गांधी, 1949)

“धर्म शब्द 'धृ' से बना हुआ है, जिससे तात्पर्य है—धारण करना। महाभारत में आता है धर्म से ही धारण किया जाता है— धरति धरयति धर्मः। अर्थात्, जिनसे लोक, परलोक, स्वास्थ्य, समाज, आदि का धारण होता है, वे सभी धर्म के अन्तर्गत समाहित होते हैं। इसीलिये धर्म के अन्तर्गत शिष्टाचार के मापदण्ड, नैतिक—नियम, लौकिक—नियम, शरीर के प्रति धर्म, समाज के प्रति धर्म, अन्य प्राणियोंके प्रति धर्म, यहाँ तक की पेड़—पौधे आदि वनस्पति जगत के प्रति भी नियम शामिल हैं। ये सभी वस्तुतः नियन्त्रककारक घटक या तत्व भी कहे जा सकते हैं जो कि मानव को नियन्त्रित करते हैं, तथा उसे पशुत्व से मुक्ति हेतु उन्मुख करते हैं।” (मन्त्र. ओ. आर. जी.)

धैर्य, क्षमा, शान्ति, लोभ न करना, शुद्धता, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध। दस लक्षणों को धारण करने वाले मनुष्य का शुभ (शारीरिक तथा मानसिक विकास), मंगल (सामाजिक विकास एवं सामाजिक प्रतिष्ठा) और कल्याण (आध्यात्मिक विकास एवं मुक्ति) तीनों निश्चित हैं। हमें धर्म को उसके इस व्यापक रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। (शर्मा, 2010)

वस्तुतः आध्यात्मिक पूर्णतः की प्राप्ति हेतु धारण किए जाने वाले आचार—विचार का ही नाम धर्म है। (शर्मा, 2010)

धर्म से तात्पर्य उन आध्यात्मिक सिद्धान्तों, नियमों एवं आचार—विचार से है, जिनको धारण करने से मनुष्य का प्राकृतिक, सामाजिक और अन्ततोगत्वा आध्यात्मिक विकास होता है।...वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद ऋषि ने धर्म की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा दी है। इन्होंने एक सूत्र में कहा

है—“धर्म से विश्व की समृद्धि प्राप्त की जाती है और सभी निराशाओं और दुःखों से छुटकारा पायाजा सकता है और आन्तरिक शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।”...धर्म ईश्वर तक पहुँचने की सीढ़ी है। ईश्वर धर्म का केन्द्र है। आत्मा—अनुभूति सबसे उत्तम धर्म है। धर्म आचार—संहिता का हृदय अथवा प्राण है। धर्म हमें ईश्वरीय शक्ति प्रदान करता है।(शर्मा, 2010)

“धार्मिक शिक्षा से तात्पर्य किसी धर्म विशेष की शिक्षा न होकर ऐसी शिक्षा से है, जो लोगों को सद्आचरण करने के लिये प्रेरित करती है। इसका अन्तर्गत विभिन्न धर्मों में बताई गई अच्छी—अच्छी बातों की शिक्षा देना सम्मिलित है।...धार्मिक शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत है, धार्मिक शिक्षा देने पर उसके साथ—साथ नैतिक शिक्षा छात्र को स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। धार्मिक शिक्षा आध्यात्मिकता से सम्बन्धित होती है, इसमें आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्धों की चर्चा की जाती है।”(शर्मा, 2010)

(बेन्सन व अन्य, 2003) तथा (क्राफोर्ड व अन्य, 2006) ने भी मानव विकास व मानव कल्याण को धार्मिकता और उससे उत्पन्न आध्यात्मिकता को महत्वपूर्ण माना है तथा धार्मिकता व आध्यात्मिकता को नैतिक व्यवहार व व्यक्तिगत विकास का साधन माना है।

धर्म के चार लक्षण

धर्म के चार लक्षण हैं:— (1) वेद (2) स्मृति (3) सदाचार और आत्मा को प्रिय होना। (वर्मा, 2013)

मीमांसा के अनुसार धर्म से अभिप्रेत है, वह साधन जिससे अदृश्य/ अलौकिक कारण से आनन्द हो। यानी, क्रिया और उसके फल का सम्बन्ध ज्ञेय नहीं हो, तब ही धर्म है। वेद व शास्त्रों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आदेश धर्म/ अधर्म को बताते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार, प्रकृति प्रदत्त मानस की विशेष वृत्ति को धर्म कहते हैं। (वर्मा, 2013)

न्याय और वैशेषिक दर्शन के अनुसार धर्म, आत्मा का विशेष गुण है, यह धर्म कर्म में नहीं है। (वर्मा, 2013)

धर्म के प्रकार

मनु के अनुसार धर्म/कत्वर्त्य दो प्रकार के होते हैं:— (1) साधारण धर्म तथा (2) विशिष्ट वर्ण व विशिष्ट आश्रम सम्बन्धी धर्म। (वर्मा, 2013)

साधारण धर्म निरपेक्ष होता है। ये धर्म सभी वर्णों व आश्रमों के सभी मनुष्य के लिये होते हैं। अर्थात्, मनुष्य के नाते जिन धर्मों का पालन करना होता है, उन्हें साधारण धर्म कहते हैं। साधारण धर्म में निम्न दस धर्म हैं:— (1) घृति (धैर्य), (2) क्षमा, (3) दम, (4) अस्तेय (चोरी न

करना), (5) शौच, (6) इन्द्रिय-निग्रह, (7) धी, (8) विद्या, (9) सत्य तथा (10) अक्रोध। (वर्मा, 2013)

इन धर्मों के पालन से आत्म-प्राप्ति होती है। यह सभी धर्म कर्म-सिद्धान्त के अनुकूल हैं। (वर्मा, 2013)

वर्ण-आश्रम धर्म सापेक्ष धर्म होते हैं। अर्थात्, प्रत्येक वर्ण के मनुष्य के उसके विभिन्न आश्रमों [जीवन-काल-अंशों] के धर्म। वर्ण चार होते हैं: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के मनुष्य। हर वर्ण के अपने कर्तव्य होते हैं। ब्राह्मण का पूजा-पाठ करने व अन्य लोगों को आदर्श-पथ-प्रदर्शन करने; क्षत्रिय वर्ण का मनुष्यों का प्रजापालन करने व देश की सुरक्षा करने; वैश्य का धन-उपार्जन करने; तथा शूद्र का सफाई करने का धर्म कहा गया है। (वर्मा, 2013)

आश्रम [मनुष्य आयु के भाग] भी चार होते हैं:— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। एक ही मनुष्य के उसके जीवन के इन चार आयुकालांशों में विभिन्न प्रकार के कर्तव्य/ धर्म होते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में वेदों का अध्ययन, गृहस्थ आश्रम में यज्ञ व सन्तान प्रजनन, वानप्रस्थ जीवन-कालांश में जप-तप व उपवास तथा सन्यास आयु-कालांश में दर्शन व ईश्वर प्राप्ति के धर्म हैं। (वर्मा, 2013)

मीमांसा में दो प्रकार के धर्मों का उल्लेख है:— (1) दृश्य/लौकिक, (2) अदृश्य/अलौकिक/शास्त्रिक/परमार्थिक। शास्त्रिक कर्म दो प्रकार के होते हैं और जो निषेधात्मक व भावनात्मक दोनों तरह के हो सकते हैं:— (1) काम्य कर्म, जो सापेक्षिक होते हैं और जो किसी विशेष फल की आकांक्षा से किये जाते हैं। (2) नित्य-नैमित्तिक कर्म, जो निरपेक्ष होते हैं, और जबकि नित्य कर्म सभी समय करना होता है तथा नैमित्तिक कर्म किसी विशेष निमित्त आने पर [यथा, सांझ बेला, सूर्य ग्रहण आदि]। (वर्मा, 2013)

रामानुज के अनुसार, ईश्वर व्युत्पन्न अग्रलिखित कल्याणकारी कार्य मनुष्य के धर्म हैं:—शक्ति देना, अज्ञानी को ज्ञान देना, क्षमा व सहृदयता। (वर्मा, 2013)

मनुष्य की इच्छा व जोश केवल चन्द्रमा, मंगलग्रह और दूसरे जगत में पहुँचने की ही नहीं, बल्कि मनुष्य यह भी चाहता है कि प्रकृति के रहस्य की कुंजी प्राप्त करे और प्रकृति का मालिक बने। किन्तु प्रकृति के सारे रहस्यों की कुंजी पाना और प्रकृति के मालिक बनने का मनुष्य का उद्देश्य निःसन्देह असम्भव है। सृष्टि की शक्ति मनुष्य में होना सम्भव नहीं है। प्रकृति का जनक और संधारक होने का मनुष्य का उद्देश्य अप्राप्य है। मनुष्य को प्रकृति में आस्था रखनी चाहिये और प्रकृति की प्रक्रिया का अनुपालन करना चाहिये। मनुष्य को अपने कर्तव्यों (धर्म) का बोध होना चाहिये और उसका अनुपालन करना चाहिये। धर्म की नींव (यानी, आस्था) मजबूत होनी चाहिये। सौभाग्यवश भारत में धर्म की नींव मजबूत है। किन्तु धर्मरूपी घर की नींव का ही शक्तिशाली होना पर्याप्त नहीं है, धर्मरूपी घर की छत भी मजबूत होनी चाहिये। धर्मरूपी मजबूत घर फिर कैसा होगा?

इस प्रकार से मजबूत धर्म होगा: मानव-धर्म। भारत में धर्म की नींव मजबूत थी और अभी भी है। लेकिन धर्मरूपी घर, जिसमें केवल आस्थारूपी नींव ही थी, को अधर्मियों की गतिविधियों व इन्द्रिय-ज्ञान आधारित साईंस की प्रगति से क्षति पहुँची; लेकिन आस्थारूपी नींव पूरी तरह से नष्ट नहीं हुई। उदाहरण बतौर, शैव आस्था के मैसूर स्थिति गुरु वासाला के प्रयत्नों की असफलता, और पुरन्दर के प्रयत्न का जिक्र किया जा सकता है।

जरूरत है धर्मरूपी घर की पुनः-स्थापना करने की जिसमें अस्थारूपी मजबूत नींव तथा प्रेम, सहयोग व सेवारूपी छत हो।

धर्म की पुनर्स्थापना का आधार मृत्यु पश्चात् फल या दुष्फल भोगना की सीख नहीं होना चाहिये। धर्म पालन से वर्तमान में फायदा दिखना चाहिये, तभी धर्म पर आस्था मजबूत होगी और साईंस की भाँति धर्म परिणाम आधारित होगा। (भावे, 1959)

धर्म की नींव से आशय है ईश्वर में आस्था। धर्मरूपी मकान की नींव तो बनी, किन्तु इस घर का निर्माण नहीं हुआ। (दीवार, छत, कमरे आदि) जिसमें लोग और समाज आश्रय ले सकें। मानवीयता का धर्म ही केवल मानव-धर्म है। 'धर्म-घर' अब तक नहीं बना—हिन्दू, इस्लाम, क्रिश्चियन तथा अन्य मात्र धर्म की नींव है, घर नहीं। धर्म वह है जो किसी व्यक्ति या समूह की तरफदारी न करे। जो कर्तव्य एक व्यक्ति के लिये धर्म निर्धारित करे, तो वो कर्तव्य पूरे समाज पर लागू होने चाहिये। धर्म की कसौटी है: मरणोपरान्त फल-दुष्फल प्राप्ति के आधार पर धर्म की स्थापना नहीं की जा सकती है— धर्म की बातें सभी पर समान रूप से लागू हों— धर्म से व्यक्ति नहीं समाज पर प्रभाव हो। (भावे, 1959)

स्व-तंत्र

स्व-तंत्र का अर्थ है, स्वयं का तंत्र। इसे अंतःकरण भी कहते हैं। इस तंत्र में 4 भाग होते हैं—मन, बुद्धि, चित्त, और अहम। (शिवदयाल, 2009)

मन इंद्रियों का संचालक है। मन की आज्ञा से ही कर्मेन्द्रियां कार्य करती हैं। अर्थात्, कर्म इंद्रियों के द्वारा मन कार्य करता है। हाथ, पैर आदि मन की आज्ञा से चलते फिरते हैं, लेते देते हैं, और सभी कार्य करते हैं। जब मन एकाग्र होकर किसी कार्य में लीन हो जाता है तब भले ही आंखों के सामने से कोई दृश्य निकल जाए आंखें नहीं देख पाती, और किसी भी ध्वनि को कान नहीं सुन सकते। ऐसे ही ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा मन कार्य करता है। (शिवदयाल, 2009) मन संकल्प विकल्प करता है। (शिवदयाल, 2009)

स्वभाव

जैसा स्वभाव होता है, वैसे ही विचार होते हैं और वैसे ही कर्म होते हैं और वैसे ही वाणी होती है और वैसे ही संस्कार होते हैं। जिस वातावरण में हम रहते हैं, उससे भी संस्कार बनते

हैं। माता-पिता के विचार, कर्म, वचन, पारिवारिक वातावरण, विद्यालय का वातावरण, और समाज का वातावरण— इन सब के प्रभाव से दिन-प्रतिदिन संस्कार बनते हैं। संस्कारों का समूह ही स्वभाव है। (शिवदयाल, 2009)

मानव की वृत्तियाँ

प्रत्येक मनुष्य में 4 वृत्तियाँ जन्मजात और आजीवन अंतर्निहित रहती हैं। इन वृत्तियों के नाम हैं:—पशुता, मानवता, साधुता और दिव्यता। (शिवदयाल, 2009)

पशुता:—काम, क्रोध, लोभ, छल-कपट, अभिमान, दीनता, द्वेष, ईर्ष्या, हिंसा इत्यादि पशुता की अभिव्यक्ति है। (शिवदयाल, 2009)

मानवता:—विनय, सरलता, विनम्रता, सत्य, प्रियता, प्रसन्नता, आत्मविश्वास, आत्मसंयम, स्वावलंबन, कर्तव्य-परायणता, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप, और स्वाध्याय इत्यादि मानवता की अभिव्यक्ति हैं। (शिवदयाल, 2009)

साधुता:—सहयोग, उदारता, स्नेह, हितकारिता, और मुदिता (हर्ष) इत्यादि साधुता की अभिव्यक्ति हैं। (शिवदयाल, 2009)

दिव्यता:—सेवा, परोपकार, प्रेम, श्रद्धा, शरणागति, समर्पण, और प्रसन्नता दिव्यता की अभिव्यक्ति हैं। (शिवदयाल, 2009)

मनुष्य यदि मानववृत्ति में ही रहे हैं, तो इसको कहते हैं स्थिति। और मनुष्य मानववृत्ति से साधुता की ओर उन्नति करता है, तो उसे मनोविकास कहते हैं। जब मानववृत्ति से व्यक्ति स्वयं को साधुता की ओर उठाता रहने का प्रतिक्षण, प्रतिदिन अभ्यास करता रहता है और सतर्क रहता है, तो उन्नति स्वभाव उत्पन्न होता जाता है। अर्थात्, मानवता को स्थिर तो रखता ही है, स्वयं का पतन नहीं होने देता और साथ ही स्वभाव को उन्नत करता है। (शिवदयाल, 2009)

मनुष्य उसके स्वभाव से जाना जाता है। स्वभाव की दृष्टि से, मनुष्य के चार प्रकार होते हैं। मनुष्य के ये चार प्रकार हैं:—अधम, मध्यम, उत्तम एवं महान। पहले चर्चा की जा चुकी है कि प्रत्येक मनुष्य में चार वृत्तियाँ जन्मजात होती हैं और वो मनुष्य में आजीवन अंतर्निहित रहती हैं। इन वृत्तियों के नाम हैं:—पशुता, मानवता, साधुता और दिव्यता। पशुता वृत्ति का अर्थ है: अपना हित देखना, और अपने हित के लिए दूसरों का अहित करना। बिल्ली चूहे को खाती है, कुत्ता बिल्ली को खाता है। कुत्ते व बिल्ली जैसे स्वभाव के व्यक्ति अधम होते हैं। मानवता वह वृत्ति है, जिसमें व्यक्ति स्वयं का हित तो देखता है और अपने स्वार्थ में मस्त रहता है, किंतु सावधानी रखता है कि दूसरों का अहित न हो। साधुता वह वृत्ति है, जिसमें व्यक्ति अपने हित के साथ-साथ दूसरों का भी हित करता है, अपने साथ-साथ दूसरों को भी गुणवान बनाता है, और अपने साथ-साथ मित्र को भी अवगुण से छुड़ाता है। ऐसे व्यक्ति को उत्तम कहा जाता है। दिव्यता वृत्ति का अर्थ है कि दूसरों का हित अवश्य हो किन्तु उसमें अपना स्वार्थ नहीं हो, दूसरों

को सुखी देखकर अंतर में सहज सुख की अनुभूति हो, दूसरों को दुखी देखकर अपने अंतर में सहज करुणा की अनुभूति हो, दूसरों को कोई उपलब्धि हो तो स्वयं को इतना हर्ष होता है जैसे स्वयं को वह उपलब्धि प्राप्त हुई हो, और दूसरों पर कोई क्लेश या कष्ट हो तो इतना दुखी हो कि मानो वह कष्ट स्वयं पर आया हो। यह दिव्यता वृत्ति है। ऐसे व्यक्ति महान होते हैं। प्रत्येक मनुष्य में प्रत्येक समय यह चारों वृत्तियाँ अंतर्निहित रहती हैं और क्षण-क्षण में कभी कोई वृत्ति और कभी कोई वृत्ति अपना प्रभाव रखती है। उदाहरणस्वरूप, किसी बहुत उदार व्यक्ति को भी कभी क्रोध आ जाता है। ऐसा इसलिए होता है यह जो चार प्रवृत्तियाँ हैं, वो कभी भी बुद्धि को प्रभावित कर देती हैं। हमको अपने विकास करने के लिए अपने कार्य में और वचन से ही नहीं वरन् प्रत्येक विचार में सावधान रहना चाहिए कि मैं मानव हूँ, मैं पशु नहीं हूँ, और मैं उन प्रवृत्तियों को अपने पास फटकने नहीं दूँगा क्योंकि मानव में पशुवृत्ति होने से उसका पतन होता है। उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादमेत्, आत्मैव हयात्मना बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः। अर्थात्, मानव स्वयं का उद्धार स्वयं करता है (अर्थात्, ऊंचा उठता है), और मानव स्वयं ही स्वयं को नीचे गिराता है। इस प्रकार, मानव ही अपना मित्र है और मानव ही अपना शत्रु है। बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैववात्मना जितः, अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्। अर्थात्, वह व्यक्ति अपना मित्र है जो स्वयं को ऊपर उठाता है और वह व्यक्ति अपना ही शत्रु है जो अपने को नीचे गिरा देता है। स्वभाव धन संपत्ति पर निर्भर नहीं है। स्वभाव मनोवृत्तियों से बनता है, धन से या वस्तुओं से नहीं। कहने का तात्पर्य है कि मनुष्य वही है जो उसका स्वभाव है और व्यक्ति का विकास उसके मनोविकास पर अवलंबित है। दूसरों के सद्गुण जो हमें दिखाई देते हैं उन्हें ग्रहण करने की वृत्ति उपयोगी है। (शिवदयाल, 2009)

माता-पिता के स्वभाव का प्रभाव बच्चे पर पड़ता है और माता-पिता के वातावरण का विद्यालय के वातावरण का व शिक्षक के कर्म, वचन और विचारों का प्रभाव बच्चे पर पड़ता है और उसका स्वभाव अपने माता-पिता जैसा, अपने शिक्षकों जैसा, तथा सहपाठियों के कर्म, विचार और वचन जैसा बनता है। इस प्रकार स्वभाव का निर्माण बाल्यावस्था से बनना शुरू होता है और जब किशोर अवस्था में पहुँचता है; अर्थात् 17 वर्ष की आयु पूर्ण करता है; तब तक उसके स्वभाव का गठन हो जाता है। स्वभाव एक दिन में नहीं बनता है, और 1 वर्ष में भी नहीं बनता है। स्वभाव का प्रतिदिन निर्माण होता है और समस्त विकास काल, अर्थात् 6 वर्ष की आयु से 17 वर्ष पूर्ण होने तक के समस्त विकास काल में उसका प्रतिदिन निर्माण होता है। (शिवदयाल, 2009)

प्रत्येक व्यक्ति को पवित्रता रखनी चाहिये और अपने स्वभाव में सरलता, संतोष, व उदारता रखनी चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को नियत नियमों (कर्मों) का पालन करना चाहिये तथा हमेशा सदाचार करना चाहिये। (शिवदयाल, 2009)

पवित्रता का अर्थ है, बाहर की स्वच्छता और भीतर मन की भी पवित्रता। पवित्रता का स्वभाव श्रेष्ठ होता है। जिसका स्वभाव स्वच्छता का बन जाता है, उसे बाहर की गंदगी भी सहन नहीं

होती है। स्वच्छता एक दैवी गुण है। मन की स्वच्छता का अर्थ है कि मन में कुविचार को स्थान न हो। शुभ संकल्प करें, शुभ दृश्य ही अच्छे लगें, गंदे/अश्लील दृश्य के प्रति घृणा हो, कानों को शुभ शब्द ही अच्छे लगें, और अपशब्द से घृणा हो। (शिवदयाल, 2009)

सरलता स्वभाव का सर्वप्रथम और सर्वप्रधान गुण है। सरलता का अर्थ है जो मन में हो, वही व्यक्त हो, बात बनाकर नहीं कहना, धोखा नहीं देना, पथभ्रष्ट नहीं करना, अपने स्वार्थ के लिए अनुचित कार्य नहीं करना, और अच्छी वाणी बोलना— ये सब सरल स्वभाव के चिन्ह हैं। और अपना कर्तव्य पालन करने के बाद जो कुछ भी प्राप्त हो, उसमें संतोष करना स्वभाव की सरलता है। सरल स्वभाव का तीसरा मुख्य अंग है, सहनशीलता। अर्थात्, जिसका स्वभाव सरल होता है वह दूसरों द्वारा निंदा करने अथवा बुरा कहने अथवा अपमान करने पर उसको सहन करता है और अपने दोष को दूर करने का संकल्प करता है और दोष दूर करने का प्रयास करता है। अपने अवगुण को सुनने और उसका विश्लेषण करने से स्वयं का मनोविकास होता है। (शिवदयाल, 2009)

संतोष मानव का बहुत ही महत्वपूर्ण गुण है। प्रत्येक प्राप्ति और अप्राप्ति में मनुष्य चाहे तो अपने आप को सुखी कर ले और चाहे तो दुःखी कर ले — यह उसके मनोभाव और मानसिक दृष्टि पर निर्भर करता है। (शिवदयाल, 2009)

उदारता के लिए तीन प्रमुख बातें होनी चाहिए। दूसरों को ठीक तरह से समझना अर्थात् दूसरों के गुण देखकर प्रसन्न होना, उनको प्राप्त करने का प्रयत्न करना, किसी के अवगुण देखने का स्वभाव नहीं होना, हमेशा लोगों की बातों और विचारों का सकारात्मक विवेचन करना आदि हैं। मनुष्य में अवगुण होना पाया जाता है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि परिस्थिति और संस्कार अलग-अलग होते हैं और प्रत्येक की अपनी सीमाएं होती हैं। इसलिए किसी के प्रति क्रोध या वैर भाव या घृणा नहीं होनी चाहिए। दूसरी बात उदारता के लिए आवश्यक है, अंगीकार करना। यानी, अडैप्ट करना, यानी अपने जीवन दर्शन का आदर करते हुए अपने व्यवहार में परिवर्तन करना। तीसरी बात उदारता के लिए आवश्यक है, समायोजन करना। हमें दूसरों के रहन-सहन में स्वयं को समायोजित करने की आदत होना चाहिए। दूसरे के उचित कार्य जो वह अपने ढंग से करते हों, तो उसका हमें आदर करना चाहिए। अतः दूसरे को भलीभाँति समझना, अपने व्यवहार में परिवर्तन करना, और दूसरों के व्यवहार के साथ समायोजन करना, यह तीन बातें उदारता के लिए आवश्यक होती हैं। (शिवदयाल, 2009)

सदाचार

जो बड़े-बूढ़ों, माता-पिता व गुरुजनों को प्रणाम करता है, उसमें उसके 4 गुण बढ़ते हैं: आयु, विद्या, यश और बल। (शिवदयाल, 2009)

नियम पालना

महर्षि पतंजलि ने सदाचार के पांच प्रधान नियम बताये हैं:—1. शौच, 2. संतोष, 3. तप, 4. स्वाध्याय, तथा 5. ईश्वर प्राणिधान।

शौच,

अर्थात्, स्वच्छता, अर्थात् बाहरी स्वच्छता, शरीर की स्वच्छता, घर की स्वच्छता और आंतरिक पवित्रता भी।

संतोष

संतोष का अर्थ है कि अपने नियत कर्म, पारिवारिक कर्तव्य तथा समाज के प्रति कर्तव्य इत्यादि का पालन करते हुए जो कुछ भी फलस्वरूप प्राप्त हो उस में संतोष करना चाहिए। संतोष से दो प्रकार के फायदे हैं:— एक, परमार्थी और दूसरा, व्यवहारिक पक्ष। ईश्वर का मंगलमय विधान न्याय और दया पर आधारित है। किसी को उसकी योग्यता अथवा पात्रता से कम नहीं मिलेगा जो उसे मिलना चाहिए क्योंकि विधान न्याय पर आधारित है। इसलिए संतोष करना मानव धर्म है। व्यवहारिक पहलू सम्बन्धी उत्तर है कि कर्ता कर्म करने में तो स्वतंत्र है किंतु कर्म के फल पर उसका नियंत्रण नहीं है, वह स्वतंत्र नहीं है। कर्मफल जगत के हाथ में है। (शिवदयाल, 2009)

तप

यह तीसरा नियम है। तप का अर्थ है कि व्यक्ति नियत कर्म में पूरी योग्यता, पूरा सामर्थ्य लगाए, अपने कर्मों में कुशलता और उत्कर्ष की इच्छा रखे और उसके लिए प्रयास करे, उसके लिए समुचित परिश्रम करे, नियत कर्म में रुचि ले। तप का एक प्रकार है, शारीरिक तप। देव, ईश्वर, द्विज, गुरु व बुद्धिमान का पूजन करना; पवित्र रहना; मन—तन—वस्त्र—स्थानादि को शुद्ध रखना; सरलता; ब्रह्मचर्य का पालन करना; और अहिंसा— ये शारीरिक तप हैं। दूसरा तप है, वाचिक तप। जो मन को व्याकुल नहीं करने वाला हो, सच्चा हो, प्रिय हो, व हितकर वचन बोलना; स्वाध्याय करना; तथा उत्तम ग्रन्थों का पाठ करना— ये वाचिक तप कहलाते हैं। तीसरा तप होता है, मानस तप। मन की प्रसन्नता, मुखमंडल का प्यारापन, मौन, आत्मा का वशीकरण, भावों की शुद्धि, अपने भीतर के विचारों की पवित्रता तथा स्वभाव की निर्मलता— इन्हें मानस तप कहा जाता है। उपर्युक्त शारीरिक, वाचिक और मानसिक, तीनों प्रकार के, तप करना मानव धर्म है। (शिवदयाल, 2009)

धर्म

धर्म शब्द को अनेक अर्थों में व्यक्त किया जाता है; जैसे, सांप्रदायिक धर्म, नियत कर्म, और मानव धर्म। सांप्रदायिक धर्म में हिंदू, सिख, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुस्लिम इत्यादि धर्म आते हैं। इन सांप्रदायिक धर्मों में ईश्वर के प्रति अपनी-अपनी मान्यताएं होती हैं। इन सांप्रदायिक धर्मों की जगत, जीवन तथा ईश्वर के संबंध में विभिन्न विचारधाराएं होती हैं। आत्मा की अभीष्ट, आनंद, और मन की अभीष्ट, शांति, के लिए विभिन्न जीवन दर्शन, मुक्ति, भुक्ति और भक्ति के संबंध में विभिन्न आदर्श हैं, किंतु साथ ही सभी धर्मों में मौलिक समानताएं और समन्वय स्पष्ट है। नियत कर्म को भी धर्म के अर्थ में प्रयोग किया जाता है।

इसका अर्थ है कि मनुष्य द्वारा नियत कर्म का पालन करना धर्म है। मानव धर्म सर्वोच्च धर्म है। मानव धर्मसे आशय है:—सदाचार, सद्ब्यवहार और सेवा करना। मानव धर्म के 5 अंग हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह। (शिवदयाल, 2009)

इन सभी धर्मों के संबंध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन सभी का लोग सामान्यतः तीन विभिन्न अर्थों में प्रयोग करते हैं और ये तीन अर्थ हैं—1. सिद्धांत संबंधी, 2. स्वार्थ संबंधी, और 3. विधि संबंधी अर्थ। किंतु इन 3 अर्थों से भी श्रेष्ठ अर्थ होता है और उसको कहते हैं:—मानव का निश्चय और दृढ़ संकल्प और इसी को मानव धर्म समझना चाहिए। (शिवदयाल, 2009)

सिद्धांतरूप में अर्थ निकाला जाता है कि असत्य बोलना यदि एक *दोष घोषित* है, तो यह सिद्धांत हुआ। स्वार्थरूप में अर्थ निकाला जाता है कि *मुझसे* कोई असत्य न बोले। विधिरूप में अर्थ निकाला जाता है कि यदि कोई व्यक्ति दूसरे से असत्य बोलेगा तो उसे *दंड दिया* जाएगा। जबकि मानव-धर्मरूप में अर्थ निकाला जाता है कि *मेरा निश्चय और दृढ़ संकल्प है कि मैं किसी के साथ छल कपट नहीं करूँगा*, भले ही दूसरे किया करें। इस प्रकार ऐसा निश्चय और दृढ़ संकल्प करना ही मानव धर्म है। इसके लिए प्रत्येक मानव स्वतंत्र है और इस स्वतंत्रता की रक्षा करना उसका गौरव है। (शिवदयाल, 2009)

सत्य:—सत्य को परम धर्म कहा गया है। तुलसीदास ने लिखा है—

धर्म न दूसर सत्य समाना । आगम निगम पुराना बखाना ।।

सत्य में सरलता होती है। (शिवदयाल, 2009)

सेवा

तुलसीदास ने रामचरित मानस में लिखा है: परहित सरिस धर्म नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहीं अधमाई, परहित बस जिन्ह के मन माहीं, तिन कहुं जग दुर्लभ कछु नाहीं। परोपकार से धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष यह चारों फल प्राप्त होते हैं और परोपकार करना संत का स्वभाव होता है। जिनके मन में दूसरों का हित करने का उद्देश्य होता है उन्हें संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। सेवा सर्वोच्च धर्म है। सेवा तन से होती है, अर्थात् सर्विस करना, सर्व करना। सेवा मन से भी होती है, यानी लव करना। सेवा धन से भी होती है, यानी शिव। तन से सेवा का

उदाहरण है: कोई व्यक्ति किसी शारीरिक कर्म को करने का प्रयास कर रहा हो परंतु शारीरिक दुर्बलता के कम नहीं कर पा रहा हो, तो ऐसी दशा में उसे अपने शरीर से सहारा देना या बल से सहयोग देना, यह तन की सेवा है। किसी को बुखार आ जाने पर उस पर ठंडे पानी की पट्टी रखना। किसी अंधे को सुरक्षित सड़क पार करा देना— ये तन से सेवा के उदाहरण हैं। उस विद्यार्थी का जीवन धन्य है जो तन से सेवा करता है, दूसरों को सुख—सुविधा पहुँचाता है, निर्धन को अपनी सामर्थ्य के अनुसार सहयोग देता है। धन से सेवा के उदाहरण हैं: बाढ़, सूखा, भूकंप आदि से पीड़ित व्यक्तियों के लिए दान देना धन से सेवा है।

परहित—सेवा—धर्म के बारे में भी यही नियम है कि निश्चय और संकल्प करके सेवा करना, और इस तरह सेवा करना सर्वोच्च मानव—धर्म है, न कि स्वार्थ भाव से यह सोचना कि मेरी कोई सेवा करे, न सिद्धांत रूप मात्र में यह सोचना की सेवा करना अच्छा है और न ही विधि की बाध्यता के कारण सेवा करना (अर्थात्, यह सोचकर सेवा करना कि जो सेवा नहीं करेगा उस को दंडित किया जाएगा)। मन से सेवा का अर्थ है: दुःखी प्राणी का दुख दूर हो, इसके लिए मन से कामना करना, व प्रभु से प्रार्थना करना मन से सेवा करना है। जो दुखी होकर करुणित हो जाते हैं, उनके हृदय में ईश्वर निवास करते हैं। इसी प्रकार दूसरे को सुखी देखकर जो हर्षित होता है, उसके हृदय में भी ईश्वर का वास होता है। परोपकाराय सका विभूतय। अर्थात्, निष्काम सेवा परोपकार ही नहीं अपितु अपने स्वयं के ऊपर भी उपकार है। यस्तु परोपकारी। अर्थात्, जीवन उसका धन्य है जो परोपकारी है। अर्थात्, दूसरों के प्रति उपकार करता है, दूसरों की सेवा करता है। दूसरों के साथ उपकार करना पुण्य है और दूसरों को दुख देना पाप है। इसे समस्त पुराणों का सर्वमूल कहा गया है। अहिंसा परमो धर्मः— अहिंसा को परम धर्म कहा गया है, अर्थात् किसी को दुःख मत दो। वहीं, 'पुण्य परोपकाराय' को सार्वभौम महाव्रत बतलाया गया है— अर्थात्, बने तो शुभ, अर्थात् सामर्थ्य के अनुसार दूसरों को सुख पहुँचाओ, इसमें परोपकार की भावना का दिग्दर्शन है। परोपकाराय सतां विभूतयः—यानी, महान वह है जिसकी विभूतियाँ, शक्तियाँ, और संपदायें दूसरों को सुख देने के लिए ही हैं। परोपकार सूर्य, नदियाँ, वृक्ष जल, और वायु करते हैं। सूर्य दूसरों के लिए प्रकाश करता है, नदियाँ दूसरों के सुख के लिए बहती हैं, वृक्ष दूसरों के लिये फल देता है, पानी बरस कर जीवनदान करता है, और वायु दूसरों के जीवन के लिए बहती है। (शिवदयाल, 2009)

वास्तव में तो मनुष्य का जन्म दूसरों को सुख देने के लिए ही हुआ है। (शिवदयाल, 2009) सब परमात्मा की संतान हैं, व सबके भीतर एक ही विश्वात्मा विद्यमान है। अतः जो सबको अपनी आत्मा के समान देखता है, उनके सुख में स्वयं सुखी होता है, दूसरों के दुःख में स्वयं दुःख का अनुभव करता है, किसी को दुःख नहीं देता, सामर्थ्य के अनुसार सबको सुख देता है, और सबकी सेवा करता है—वह मानव—धर्म निभाता है। ऐसे व्यक्ति को परम योगी कहा गया है जो दूसरों के सुख में सुखी होता है और दूसरों के दुःख में दुःखी होता है। (शिवदयाल, 2009)

धर्म शब्द को अनेक अर्थों में व्यक्त किया जाता है; जैसे, सांप्रदायिक धर्म, नियत कर्म, और मानव धर्म। मानव धर्म सर्वोच्च धर्म है। मानव धर्मसे आशय है:—सदाचार, सद्ब्यवहार और सेवा करना। मानव धर्म के 5 अंग हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह। मनुष्य का जन्म दूसरों को सुख देने के लिए ही हुआ है। सब परमात्मा की संतान हैं, व सबके भीतर एक ही विश्वात्मा विद्यमान है। अतः जो सबको अपनी आत्मा के समान देखता है, उनके सुख में स्वयं सुखी होता है, दूसरों के दुःख में स्वयं दुःख का अनुभव करता है, किसी को दुःख नहीं देता, सामर्थ्य के अनुसार सबको सुख देता है, और सबकी सेवा करता है—वह मानव—धर्म निभाता है। मानव का निश्चय और दृढ़ संकल्प और इसी को मानव धर्म समझना चाहिए। सेवा को भी सर्वोच्च धर्म कहते हैं। सेवा तन से होती है, सेवा मन से भी होती है, और सेवा धन से भी होती है। परोपकार से धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष यह चारों फल प्राप्त होते हैं और परोपकार करना संत का स्वभाव होता है। परहित—सेवा—धर्म के बारे में भी यही नियम है कि स्वेच्छा से निश्चय और संकल्प करके सेवा करना, और इस तरह सेवा करना सर्वोच्च मानव—धर्म है, न कि स्वार्थ भाव, न सिद्धांत रूप मात्र में, और न ही विधि की बाध्यता के कारण। निष्काम सेवा परोपकार ही नहीं अपितु अपने स्वयं के ऊपर भी उपकार है। अहिंसा परमो धर्म: कहा गया है। 'पुण्य परोपकाराय' को सार्वभौम महाव्रत बतलाया गया है। महान वह कहा गया है जिसकी विभूतियाँ, शक्तियाँ, और संपदायें दूसरों को सुख देने के लिए ही हैं।

धर्म के लक्षण हैं सदाचार और आत्मा को प्रिय होना। वह साधन जिससे अदृश्य/ अलौकिक कारण से आनन्द हो। यानी, क्रिया और उसके फल का सम्बन्ध ज्ञेय नहीं हो, तब ही धर्म है। धर्म, आत्मा का विशेष गुण है, यह धर्म कर्म में नहीं है। साधारण धर्म में निम्न दस धर्म हैं:— (1) घृति (धैर्य), (2) क्षमा, (3) दम, (4) अस्तेय (चोरी न करना), (5) शौच, (6) इन्द्रिय—निग्रह, (7) धी, (8) विद्या, (9) सत्य तथा (10) अक्रोध। इन धर्मों के पालन से आत्म—प्राप्ति होती है। यह सभी धर्म कर्म—सिद्धान्त के अनुकूल हैं। ईश्वर व्युत्पन्न अग्रलिखित कल्याणकारी कार्य मनुष्य के धर्म हैं:—शक्ति देना, अज्ञानी को ज्ञान देना, क्षमा व सहृदयता।

प्रत्येक मनुष्य में चार वृत्तियाँ जन्मजात और आजीवन अंतर्निहित रहती हैं (पशुता, मानवता, साधुता और दिव्यता) और मनुष्यस्वभाव की दृष्टि से चार प्रकार के होते हैं (अधम, मध्यम, उत्तम एवं महान)। पशुता में काम, क्रोध, लोभ, छल—कपट, अभिमान, दीनता, द्वेष, ईर्ष्या, हिंसा इत्यादि की अभिव्यक्ति होती है; मानवता में विनय, सरलता, विनम्रता, सत्य, प्रियता, प्रसन्नता, आत्मविश्वास, आत्मसंयम, स्वावलंबन, कर्तव्य—परायणता, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप, स्वाध्याय इत्यादि की अभिव्यक्ति होती है; साधुता में सहयोग, उदारता, स्नेह, हितकारिता, और हर्ष इत्यादि की अभिव्यक्ति होती है; और दिव्यता में सेवा, परोपकार, प्रेम, श्रद्धा, शरणागति,

समर्पण, प्रसन्नता की अभिव्यक्ति होती हैं। दिव्यता वृत्ति के व्यक्ति महान स्वभाव के होते हैं। और ऐसा ही सब व्यक्तियों को होना चाहिये।

निष्कर्ष

स्पष्टतः गांधी धर्म शिक्षा के पक्ष में थे, किन्तु भारत में मुल्लों, दस्तूरों और ब्राह्मण आदि धर्म के ज्ञाता, आचार्य, पालक, अनुदेशक आदि के द्वारा स्वयं के स्वार्थ हेतु व दम्भ के कारण पनपाये गये और प्रयोग किये जाने वाले आडम्बरपूर्ण व पाखण्डपूर्ण कुरीतियों/ परम्पराओं वाले धर्म के पक्ष में नहीं थे। इन मुल्लों आदि को उन्होंने मैल पैदा करने वाला और लोगों को गलत राह पर लेजाकर गन्दा करने वाला कहा है। चूँकि लोग इन दम्भी, स्वार्थी व पाखण्डी आचार्यों आदि से आसक्त हो चुके थे, अतः गांधी ने सुझाया था कि इन आचार्यों आदि को नम्रता से समझायें किये लोगों को कुरीतियुक्त, पाखण्डपूर्ण, व आडम्बरपूर्ण कुरीतियों को करने के लिये न कहें/ शिक्षा न दें, बल्कि धर्म में निहित वास्तविक सत्य का ज्ञान करायें। चूँकि यह काम मुश्किल था किन्तु फिर सर्वहिताय था। अतः गांधी ने लोगों को नीति के बारे में लोगों को बताने और नीति नियम पर चलना सिखाना उचित समझा ताकि सांप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे। विदित हो कि संसार के सारे धर्मों में गांधी समान नीति का होना मानते थे। गांधी का मानना था कि नीति के बिना संसार में किसी भी धर्म का अस्तित्व नहीं है। अतः अप्रत्यक्षरूप से ही सही गांधी ने नीति का ज्ञान कराकर नीति पर चलने के नीति नियम बनाकर और उन पर लोगों को चलना सिखाकर वास्तव में सर्वधर्म (किसी विशेष साम्प्रदायिक धर्म की नहीं) की शिक्षा लोगों को दी।

तो उपरोक्त वर्णन व विवेचन से निष्कर्ष पाया कि 'नीति शिक्षा' धर्म शिक्षा का पर्याय है तथा इसको धर्मनीति व नीतिधर्म भी कहा है, किन्तु स्पष्टतः 'नीति शिक्षा' साम्प्रदायिक धर्म की शिक्षा का पर्याय नहीं है।

3.4

शोध प्रश्न-8: क्या 'नीति शिक्षा' आतंकवाद व हिंसा पर काबू पा सकेगी ?

इसी शोध प्रबंध के अनुच्छेदों, संख्या 3.1.2 से 3.1.4 में नीति, शिक्षा और नीति शिक्षा संबंधी विवेचन व निष्कर्ष व्यक्त किए गए हैं। उक्त विवेचन व निष्कर्ष की आंशिक पुनरावृत्ति की भी विश्वविद्यालय नियम ने मनाही होने के कारण उक्त विवेचन व निष्कर्ष का जिक्र यहाँ नहीं किया जा रहा है, हालांकि उक्त विवेचन व निष्कर्ष इस प्रश्न के उत्तर हेतु आधार हैं।

नीति शिक्षा के नियमों में सत्य; अहिंसा; अपरिग्रह; अस्वाद; अस्तेय; प्रकृति की समझ रखना और प्रकृति के अनुकूल कार्य करना; इच्छाओं को कम करना व सीमित रखना; अहं (मैं और मेरा) को खत्म करना, 'हम' की भावना से कार्य करना; शारीरिक परिश्रम बुद्धि अर्जित करना; शारीरिक परिश्रम से जीवन-यापन हेतु जरूरी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन कमाना; दूसरों के अहित के कार्य न करना; सर्वधर्मसमभाव निभाना; ईमानदार रहना; आस-पड़ोस की सेवा करना; नीच कामों से नफरत करना; इन्द्रिय नियन्त्रण करने में अभ्यस्त होना; तथा बुद्धि शुद्ध, शान्त और न्यायदर्शी रखना; तथा नम्रता बनाये रखना निहित है।

नीति शिक्षा के एक नियम 'अहिंसा' का अर्थ ही 'हिंसा' के बिल्कुल विलोम है। अर्थात्, नीति शिक्षा का अर्थ हुआ हिंसा नहीं। अहिंसा एक धर्म है:—किसी को क्षति नहीं पहुँचाना; किसी को भी नहीं मारना, बच्चों में अन्तर्निहित शक्तियों को नजरन्दाज नहीं करना— इन सब बातों की सीख देकर बच्चों को इन बातों का अभ्यस्त बनाना ही तो नीति शिक्षा के अपरिहार्य व आवश्यक तत्व का काम है। यही नहीं, नीति शिक्षा में अन्तर्निहित अहिंसा की शिक्षा से बच्चों में सार्वकालिक आदत डाली जाती है कि बच्चों में कभी खराब विचार नहीं आये; बच्चे जल्दबाजी न बरतें; बच्चे झूठ न बोलें; बच्चे किसी से द्वेष-दुश्मनी-ईर्ष्या नहीं रखें; अपने शरीर को स्वस्थ रखकर स्वयं को सभी की सेवा में अर्पित करें; सभी जीवों-निर्जीवों व प्रकृति (सृष्टि) से समानरूप से प्यार करें; किसी से घृणा न करें; सृष्टि जनक व परिचालक को अनदेखा न करें। इससे स्पष्ट होता है कि अहिंसा नामक नीति शिक्षा अन्तर्गत दी जाने वाली शिक्षा हिंसा व आतंकवाद को जन्म दे ही नहीं सकती; यह हिंसा व आतंकवाद को अकेले ही नियन्त्रित करने व खत्म करने में सक्षम है। हिंसा व आतंकवाद को खत्म करने, या उत्पन्न नहीं होने देने में नीति शिक्षा में अन्तर्निहित अन्य शिक्षायें भी योगदान करती हैं; यथा;सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, जात-मेहनत, अस्वाद, नम्रता, सर्वधर्मसमभाव।

स्पष्ट है कि इन खूबियों वाले मनुष्य (अर्थात्, 'नीति शिक्षा' पालक) आतंक व हिंसा कभी भी नहीं कर सकते हैं।

उपरोक्त विवेचन व परिणामों के फलस्वरूप शोधार्थिन इस निष्कर्ष पर पहुँची कि नीति शिक्षा आतंकवाद व हिंसा पर काबू पा सकती है; आतंकवाद व हिंसा को खत्म करने में सक्षम है; तथा हिंसा व आतंकवाद की उत्पत्ति न होने देने की शिक्षा है।

3.5

शोध प्रश्न-7: क्या 'नीति शिक्षा' भ्रष्टाचार पर काबू पा सकेगी?

इसी शोध प्रबंध के अनुच्छेदों, संख्या 3.1.2 से 3.1.4 में नीति, शिक्षा और नीति शिक्षा संबंधी विवेचन व निष्कर्ष व्यक्त किए गए हैं। उक्त विवेचन व निष्कर्ष की आंशिक पुनरावृत्ति की भी विश्वविद्यालय नियम ने मनाही होने के कारण उक्त विवेचन व निष्कर्ष का जिक्र यहाँ नहीं किया जा रहा है, हालांकि उक्त विवेचन व निष्कर्ष इस प्रश्न के उत्तर हेतु आधार हैं।

गांधी की नीति शिक्षा का गौर से अध्ययन करने पर पाया जाता है कि जहाँ नीति शिक्षा के अनुपालक लोग होंगे, वहाँ भ्रष्टाचार हो ही नहीं सकता है। नीति शिक्षा कैसे रोक सकती है भ्रष्टाचार को? बुद्धि का सच्चा विकास तो हाथ, पैर, कान, नाक, आँख आदि अवयवों के सदुपयोग से तथा परमार्थिक वृत्ति (हृदय/आत्मा का क्षेत्र) से अच्छे से व जल्दी से हो सकता है।

गांधी की शिक्षा से शारीरिक श्रम करते हुए बच्चों को उद्योगों में कार्य कराते हुए और उद्योगों में निपुणता प्राप्त कराते ही बच्चों का विकास किया जाता है और इस प्रकार बच्चे प्रारम्भ से ही धन का अर्जन करना सीख जाते हैं और बड़े होने पर बेरोजगार नहीं रहते हैं। जब रोजगार होता है, तो बच्चों के पास जीवन-यापन की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन भी होता है। ऐसी स्थिति में बच्चे बड़े होकर भ्रष्ट आचार करेंगे ही नहीं। इसके बावजूद भी भ्रष्ट आचार की सम्भावनायें खत्म करने हेतु गांधी की नीति शिक्षा में और भी बातें शामिल हैं। नीति शिक्षा में शामिल है शिक्षा-सत्य की। सत्य का अर्थ है, विचार में, बोलने में और बरतने में सच्चाई। सत्य ही परमेश्वर है। सत्य की भक्ति करते हुए ही हम जियें। सत्य हो, तो शुद्धज्ञान होगा ही, और जहाँ सत्य और शुद्धज्ञान होगा, वहाँ आनन्द भी होगा ही। सत्य में स्वार्थ की तो गंध होती ही नहीं है। अर्थात्, जहाँ सत्य की समझ और पालन होता है, वहाँ भ्रष्ट-आचार (भ्रष्टाचार) हो ही नहीं सकता। फिर नीति शिक्षा में, अहिंसा समझने और व्यवहार में बरतने की भी सीख शामिल है। अहिंसा है, तो खराब विचार हो ही नहीं सकते; झूठ बोला ही नहीं जाता; द्वेष-बैर-अहं हो ही नहीं सकते; व्यक्ति में दूसरे का बुरा करने का विचार आ ही नहीं सकता; व्यक्ति उस चीज को ले/रख ही नहीं सकता जिसकी जरूरत दूसरे या दूसरों को हो; व्यक्ति दूसरों से प्रेम ही करेगा।

व्यक्ति में अहिंसा की समझ की सीख होने और उसके अनुपालन करने की वजह से वह व्यक्ति भ्रष्ट-आचार कर ही नहीं सकता है।

गांधी की नीति शिक्षा में अस्वाद भी निहित है। अस्वाद का आशय है कि व्यक्ति चीजों को जायके के लिये, स्वाद के लिये, रस-मजा के लिये ग्रहण न करे। अस्वाद के प्रति शिक्षित और अस्वाद का अनुपालक बच्चा या व्यक्ति शरीर के लिये जरूरी मात्रा में खाना सन्तोष के साथ और बिना किसी टीका-टिप्पड़ी किये खाता है, चाहें उसमें स्वाद हो या न हो।

शारीरिक श्रम करके जीने की आवश्यक आवश्यकताओं के पूर्ति हेतु धन-उपार्जन हेतु शिक्षित, जोकि गांधी की नीति शिक्षा का निश्चित परिणाम है, व्यक्ति यदि अस्वाद के प्रति सीख प्रदत्त, प्रशिक्षित व उसका अनुपालक होता है, तो उस व्यक्ति में भ्रष्ट-आचार करने का भाव भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

नीति शिक्षा में अस्तेय की सीख व अस्तेय की आदत डालना भी निहित होता है। अतः अस्तेय की सीख, समझ व अनुपालन करने वाला बच्चा या बड़ा चोरी नहीं करता; प्रेम धर्म का पालन करता है; दूसरे की वस्तु को, उस दूसरे व्यक्ति के ज्ञान में या अज्ञान में होने पर, बिना उस दूसरे व्यक्ति की इजाजत के नहीं लेता है; उस वस्तु को नहीं लेता है जिसकी उसे जरूरत न हो; अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखता है और उनमें निरन्तर कमी करता जाता है; अच्छी वस्तुओं को देखकर ललचाता नहीं; दूसरे के विचारों को अपने विचार नहीं जताता है; भविष्य में वस्तुओं को पाने की इच्छा नहीं करता है। निःसन्देह, ऐसे व्यक्ति से, अस्तेय नीति की सीख लिये हुए और अस्तेय नीति के पालक से, भ्रष्ट-आचार की उत्पत्ति नहीं होती।

नीति शिक्षा अन्तर्गत अपरिग्रह नीति की भी सीख देना और अपरिग्रह नीति का अभ्यस्त बनाया जाना भी हैं। अपरिग्रह नीति की समझ रखने वाला और अपरिग्रह नीति का अनुपालक व्यक्ति वस्तुओं को इकट्ठा नहीं करता सिवाय सबके सन्तोष को कायम रखने की बात को ध्यान में रखते हुए अपनी जरूरतभर की वस्तु रखने के; सुखी व सच्चेरूप में सन्तोषी रहता है; अपने पास की वस्तुओं को, जिसमें उसका शरीर भी शामिल है, सिर्फ सेवा करने के लिये उपयोग करता है। यहाँ तक कि वह अपने विचारों का परिग्रह न करके सबकी सेवा में उपयोग करता है। निःसन्देह, अपरिग्रह नीति की सीख लिये हुए और उसका अनुपालन करने वाले व्यक्ति से भ्रष्ट-आचार किये जाने की अवधारणा करना उचित नहीं है।

इसी प्रकार, जात-मेहनत नीति नियम भी नीति शिक्षा में समाहित है। जात-मेहनत नियम की सीख प्राप्त और अनुपालक व्यक्ति अपने जीवन निर्वाह के लिये धन शारीरिक मेहनत करके व पसीना बहाकर कमाता है। नम्रता नीति नियम भी नीति शिक्षा में सम्मिलित है। नम्रता नियम की सीख प्राप्त और अनुपालक व्यक्ति में 'मैं' व 'मेरा' नहीं रहते। ऐसा व्यक्ति सत्य, अहिंसा, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, मेहनत नीति नियमोंका अडिग पालन करने से स्वतः नम्रता-अभिभूत हो जाता है। ऐसा व्यक्ति सख्त से सख्त मेहनत परमार्थ के लिये, तमाम जीवों की सेवा के लिये करता है। निःसन्देह, जात-मेहनत और नम्रता नीति नियमोंके पालक व्यक्ति से भ्रष्टाचार किये जाने की कल्पना नहीं की जा सकती है।

उपरोक्त विवेचन व परिणामों से शोधार्थिन ने यह पाया कि 'नीति शिक्षा' निश्चित ही भ्रष्टाचार पर काबू पा सकेगी।

3.6

शोध प्रश्न-12: 'नीति शिक्षा' क्या 'सकल राष्ट्रीय खुशहाली' (ग्रॉस नेशनल हैप्पीनेस-जी.एन.एच.) का पर्याय है ?

इसी शोध प्रबन्ध के अनुच्छेद 3.1.2 से 3.1.4 में नीति, शिक्षा और 'नीति शिक्षा' सम्बन्धी विवेचन व निष्कर्ष व्यक्त किये गये हैं। उक्त विवेचन की पुनरावृत्ति यहाँ नहीं की जा रही है। उक्त विवेचन के अनुसार इस शोध प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित है।

'नीति शिक्षा' से तात्पर्य उस आधारभूत शिक्षा या सीख से है, जोकि मानवीयता का विकास करने व संधारित करने हेतु तथा सृष्टि व सृष्टिकर्ता (सत्य/ईश्वर) को मानते हुए व उस पर श्रद्धा रखते हुए सृष्टि के अनुकूल व्यवहार करने हेतु प्रत्येक मनुष्य के लिये अनिवार्य है। नीति शिक्षा प्राप्तकर व्यक्ति, वसुधैव कुटुम्बकम् का अनुपालन करता है तथा समानता, बंधुत्व, स्वतन्त्रता, समाज में गतिशीलता, समाज तथा विश्व में प्रेम व खुशहाली का स्रोत होता है।

भूटान राज्य के आधीन वर्ष 1972 में सेन्टर फॉर भूटान स्टडीज स्थापित संस्था ने जीवन गुणवत्ता बनाने, मापने और सामाजिक उन्नति या सामाजिक खुशहाली मापने हेतु मापदण्ड बनाये हैं। इस संस्था ने राष्ट्रीय खुशहाली मापने के लिये ग्रॉस नेशनल हैप्पीनेस (जी.एन.एच.) नामक मापदण्ड बनाया है। जी.एन.एच. में खुशहाली का ज्ञान नौ क्षेत्रों में मापन के आधार पर किया जाता है:- मनोवैज्ञानिक सुख; स्वास्थ्य; संस्कृति; शिक्षा; सामुदायिक शक्ति; रहन-सहन स्तर; अच्छा शासन; परिस्थितिकी बहुरूपता व लोभ; तथा समय का उपयोग। इन नौ क्षेत्रों में से प्रत्येक के उपविभाग किये गये हैं, जिन्हें खुशहाली के संकेतक {इन्डिकेटर्स} कहा जाता है। सभी नौ खुशहाली के तत्वों के कुल मिलाकर तैतीस संकेतक हैं। ये तैतीस संकेतक अग्रवर्णित हैं:- जीवन से सन्तुष्टि; सकारात्मक संवेग सन्तुलन; नकारात्मक संवेग सन्तुलन; आध्यात्मिकता; स्वसूचित स्वास्थ्य स्तर; स्वस्थ दिवस; दीर्घकालीन निर्योग्यता; मानसिक स्वास्थ्य; पैदायशी भाषा बोलना; दस्तकारी निपुणता; सांस्कृतिक सहभागिता; शिष्टता व व्यवहार नियमानुसरण; साक्षरता; विद्यालयीन शिक्षा; ज्ञान; मूल्य; समय व धन दान; सामुदायिक सम्बन्ध; परिवार; अपराध से सुरक्षा; प्रतिव्यक्ति घरेलू आय; सम्पत्ति; घर; राजनीति में सहभागिता; आधारभूत अधिकार; सेवाओं का वितरण; सरकार का व्यवहार- परिस्थितिकीय मामले/समस्यायें; शहरी मामले/ समस्यायें;

वन्य-जीव क्षति; पर्यावरण के प्रति दायित्व; तथा कार्य के घंटे व सोने के घंटे। 1/4जीएनएच सेन्टर भूटान, 2015; सेन्टर फॉर भूटान स्टडीज, 2015)

जी.एन.एच. के मापन में नौ क्षेत्रों में से प्रत्येक क्षेत्र को समानरूप से महत्वपूर्ण समझा जाता है। और उस व्यक्ति को खुशहाल समझा जाता है जिसने नौ में छः क्षेत्रों में न्यूनतम कट-ऑफ अंक प्राप्त कर लिये हों। कट-ऑफ अंक से आशय है, खुशहाली का सामान्य बोध प्राप्तांक। अर्थात्, यदि कोई व्यक्ति 'मनोवैज्ञानिक सुख' और 'शिक्षा' क्षेत्रों में शून्य अंक भी प्राप्त करता है, तो उसे खुशहाल समझा जाता है। 1/4जीएनएच सेन्टर भूटान, 2015; सेन्टर फॉर भूटान स्टडीज, 2015) इन 'मनोवैज्ञानिक सुख' व 'शिक्षा' क्षेत्रों में से कुछ उन गुणों की मात्रा को ही परखा जाता है, जिनको नीति शिक्षा-युक्त व्यक्ति के व्यवहार में देखा जाता है-जैसे: शान्त स्वभाव; दयावान; क्षमाशील; सन्तोषी; उदार; निःस्वार्थपरता; ईष्याहीनता; भयहीनता; क्रोधहीनता; हिंसा-चोरी-झूठ को अनौचित्यपूर्ण मानने वाला। निश्चित ही उस व्यक्ति को, जोकि शून्य अंक या अपर्याप्त उच्च अंक इन दो क्षेत्रों में प्राप्त करता है, नीति शिक्षा-युक्त नहीं कहा जा सकता है। इसके अलावा, गांधी की नीति शिक्षा में भले ही उसमें अन्य विशेषतायें न भी हों, नीति शिक्षा से उत्पन्न परिणाम(गुणों) से सम्पन्न होने पर व्यक्ति में अग्रवर्णित खूबियाँ होती हैं और उसी को सुखी, सन्तुष्ट, सम्पन्न व धनवान कहा जाता है, जबकि जी.एन.एच. में तो उस व्यक्ति को खुश मान लिया जाता है जिसमें नीति शिक्षा से उत्पन्न नैतिकता हो या न हो अन्य उक्त खूबियाँ हों या न हों। अर्थात्, वह व्यक्ति भी खुश है जिसके पास ऐश-आराम की वस्तुयें हों, घर हो, धन हो, आमदनी अच्छी हो, रहन-सहन आधुनिक हो, जो बुरी परम्पराओं व प्रथाओं का पालन करता हो, जो राजनीति में भाग लेता हो, जो गैर-शारीरिक मेहनत करने वाला हो, इत्यादि। 1/4जीएनएच सेन्टर भूटान, 2015; सेन्टर फॉर भूटान स्टडीज, 2015) जबकि गांधी नीति शिक्षा के अनुसार ऐसे व्यक्ति को मानवीयतायुक्त नहीं माना जा सकता। गांधी नीति शिक्षा के अनुसार उस व्यक्ति को अच्छा मानते हैं जो नैतिक मूल्य सम्पन्न हो, न कि नैतिक मूल्य-विहीन अपने को खुश समझने वाले व्यक्ति को। यदि व्यक्ति नीति शिक्षा (नीति नियम के व्यवहार/नैतिक व्यवहारों) के आधार पर शारीरिक, बौद्धिक आध्यात्मिक, तथा नैतिक आधार पर खुश है, तब ही व्यक्ति की मानवरूप में सार्थकता है- अन्यथा नहीं, चाहे कितना भी धन, सम्पत्ति, शारीरिक रूप से स्वस्थ और बौद्धिक रूप से सम्पन्न क्यों न हो।

उपरोक्त विवेचन व परिणामों के सन्दर्भ में शोधार्थिन ने यह पाया है कि 'नीति शिक्षा' का पर्याय सकल राष्ट्रीय खुशहाल (ग्रॉस नेशनल हैप्पीनेस-जी.एन.एच.) नहीं है।